मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 80 ● वर्ष 9, अंक 06 ● अगस्त 2019 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

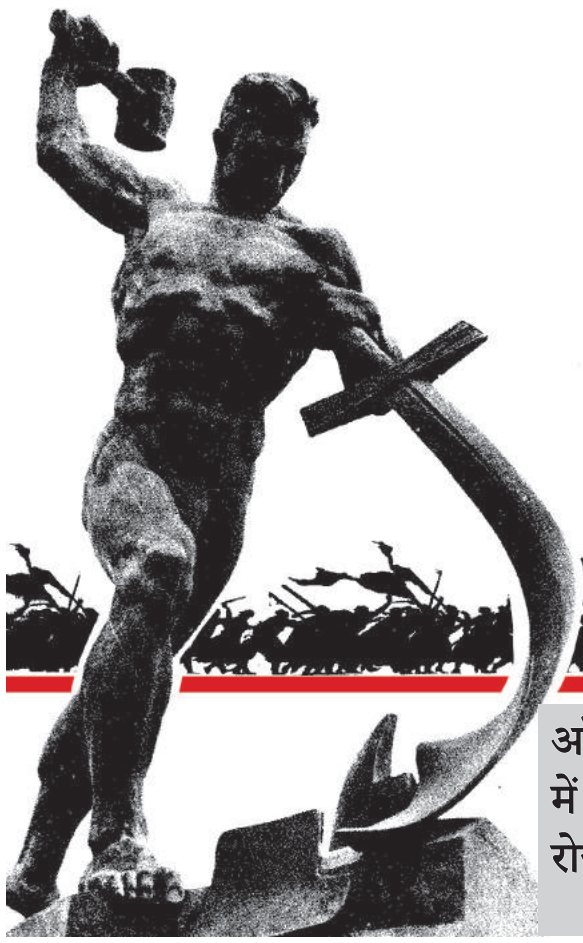

मज़दूर बिगुल

ऑटोमोबाइल सेक्टर में भीषण मन्दी लाखों रोज़गार छीन सकती है 7

'यूएपीए' : एक ख़तरनाक काला क़ानून 10

मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर फ़ासीवाद की मार 11

झूठी बातों से सच को हमेशा दबाया नहीं जा सकता

आतंक का राज क़ायम करके लोगों को उठ खड़े होने से रोका नहीं जा सकता

सम्पादक मण्डल

बच्चे को भूख लगी हो और उसका ख़याल रखने के लिए ज़िम्मेदार व्यक्ति उसके हिस्से का ख़ाना अपने दोस्तों के साथ मिलकर चट कर गया हो, तो वह क्या करेगा? तरह-तरह के झुनझुने बजाकर, इधर-उधर की चीज़ें दिखाकर बच्चे का ध्यान भटकायेगा। मगर कब तक? लोगों की ज़िन्दगी की बुनियादी ज़रूरतें पूरी न हो रही हों, महँगाई ने जीना दूभर कर रखा हो, बेरोज़गारी करोड़ों परिवारों का भविष्य अन्धकारमय बना रही हो, लोगों से उनको मिले हक़ एक-एक करके छीने जा रहे हों, करोड़ों लोगों को उनकी जगह ज़मीन से उजाड़ा जा रहा हो – और यह सब देश की सरकारें चन्द पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए कर रही हों, तो लोगों का ध्यान भटकाने के लिए कुछ तो करना पड़ेगा। कभी धर्म पर ख़तरा, कभी गौरक्षा, कभी राष्ट्रवाद का नशा देना तो पड़ेगा। मगर कब तक?

लोग लोहे की दीवारों में क़ैद हों, तो भी जागेंगे। वे उठेंगे और दीवारों को तोड़ डालेंगे और उनका हक़ छीनने वालों को सबक़ सिखायेंगे। इसलिए ज़रूरी है कि हर विरोध को ख़त्म कर दिया जाये। भाजपा और आर.एस.एस. अच्छी तरह जानते हैं कि ये हालात बड़े पैमाने पर जन असन्तोष को जन्म देंगे। ये हर उस आवाज़ का गला घोंट देना चाहते हैं जो इनके काले कारनामों का विरोध कर सकती हो और इन्हें लोगों के बीच नंगा कर सकती हो। भाजपा और संघ का विरोध करने वाले किसी भी व्यक्ति को देशद्रोही और 'अर्बन नक्सल' घोषित कर हमले का शिकार बनाया जा सकता है। पर वे भी जानते हैं कि दमन चाहे जितना भी बढ़ जाये, उसका प्रतिरोध होकर रहेगा। इसीलिए वे धर्म, जाति, नकली राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ नफ़रत पैदा करने और आपसी फूट, अविश्वास और डर का माहौल बनाने में लगे हुए हैं ताकि लोग एकजुट न हो सकें।

मगर इतिहास ने बार-बार साबित किया है, लाशों की ढेरियों, खून की नदियों, जेलों, क़त्लगाहों, आतंक और सन्नाटे से भरे साम्राज्य कभी भी टिकाऊ नहीं होते। झूठी बातों से सच को हमेशा दबाया नहीं जा सकता। आतंक का राज क़ायम करके लोगों को उठ खड़े होने से रोका नहीं जा सकता। और जब लोग उठ खड़े होते हैं, तो दुनिया के तमाम फ़ासिस्ट और तानाशाह मिट्टी में मिल जाते हैं। पर तानाशाह कभी इतिहास के सबक़ पर ध्यान नहीं देते। वे इतिहास को बदल देने के भ्रम में रहते हैं और इतिहास उनके लिए कचरे की पेटी तैयार करता रहता है।

अब इस बात में कोई सन्देह नहीं कि फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई का मुख्य मोर्चा सड़कों पर ही बँधेगा। उसके लिए फ़ासिस्टों की घिनौनी करतूतों, उनके काले इतिहास और उनके पूँजीपरस्त, धनलोलुप और लम्पट चरित्र का व्यापक पैमाने पर पर्दाफ़ाश करने की जुझारू मुहिम पुरज़ोर ढंग से छेड़नी होगी। हमें फ़ासीवादियों के सामाजिक आधार को छिन्न-भिन्न करने में जुट जाना होगा। हमें अपनी भरपूर ताक़त के साथ इसकी तैयारी में जुट जाना चाहिए। अगर हम एकजुट होकर इन्हें इतिहास के कूड़ेदान में धकेलने के लिए संघर्ष नहीं छेड़ेंगे तो वे इस मुल्क को आग और ख़ून के दलदल में तब्दील कर डालेंगे क्योंकि वे लगातार अपने काम में लगे हुए हैं।

कश्मीर के मुद्दे पर सोचने के लिए कुछ बेहद ज़रूरी सवाल

मज़दूर साथियो! क्या किसी क़ौम को ग़ुलाम बनाने की हिमायत करके हम आज़ाद रह सकते हैं?

– अभिनव

मोदी सरकार ने 5 अगस्त को अनुच्छेद 370 और 35ए को हटा दिया और जम्मू-कश्मीर राज्य को दो हिस्सों में बाँटने का ऐलान कर दिया। जम्मू-कश्मीर के विशेष राज्य के दर्जे को ख़त्म कर दिया गया और जम्मू-कश्मीर को दिल्ली व पुदुचेरी की तरह आधे-अधूरे अधिकारों वाली विधानसभा के साथ और लद्दाख को चण्डीगढ़ जैसे विधानसभा रहित केन्द्र-शासित प्रदेश में बदल दिया गया।

पूरे देश में मज़दूर वर्ग समेत सभी लोग इस क़दम पर दो हिस्सों में बँट गये हैं। मोदी सरकार का दावा है कि इस क़दम से कश्मीर सच्चे मायने में पूरी तरह से भारत का हिस्सा बन जायेगा, वहाँ आतंकवाद ख़त्म हो जायेगा, बेरोज़गारी ख़त्म हो जायेगी, "विकास" हो जायेगा, वगैरह। मोदी सरकार यह भी दावा कर रही है कि कश्मीर की जनता उसका समर्थन कर रही है। इस दावे पर तो मोदी के समर्थक भी यक़ीन नहीं करते हैं। निष्पक्ष पत्रकारों व प्रेक्षकों तथा अन्तरराष्ट्रीय टेलीविज़न चैनलों ने इस दावे की पोल खोल दी है। पूरे जम्मू-कश्मीर में आम कश्मीरी इस फ़ैसले के खिलाफ़ सड़कों पर उतर रहे हैं और उन्हें पैलेट गन और गोलियों का निशाना बनाया जा रहा है। और तो और, कश्मीर के बाहर भी अगर कोई इस एकतरफ़ा और निरंकुश फ़ैसले के विरुद्ध आवाज़ उठाने की कोशिश कर रहा है, तो उसे गिरफ़्तार कर लिया जा रहा है। **अगर कश्मीर की जनता इस फ़ैसले के समर्थन में होती तो पूरे जम्मू-कश्मीर को फ़ौजी छावनी में तब्दील करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।** लेकिन मोदी सरकार के बाकी दावों का क्या? क्या वाकई इस फ़ैसले से जम्मू-कश्मीर का विकास होगा, वहाँ रोज़गार पैदा होंगे, आतंकवाद ख़त्म होगा? **मोदी सरकार के इस फैसले पर मज़दूर वर्ग का क्या नज़रिया होना चाहिए?** यह सवाल आज के समय का जलता हुआ सवाल है, जिस पर चुप्पी साधने वालों को या ग़लत रुख अपनाने वालों को इतिहास कभी माफ़ नहीं करेगा।

जहाँ तक अनुच्छेद 370 हटाकर विकास करने और रोज़गार पैदा करने के दावों का सवाल है, तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ये दावे बकवास हैं। अगर ऐसा होना होता तो सबसे पहले बाक़ी हिन्दुस्तान में मोदी सरकार विकास कर देती और रोज़गार पैदा कर देती। लेकिन पिछले पाँच वर्षों में और पिछले 2 माह में हुआ क्या है? सभी मज़दूर और मेहनतकश जानते हैं कि नया रोज़गार पैदा होना तो दूर जो रोज़गार था वह भी छिनता जा रहा है। मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था के मुनाफ़े के संकट ने पिछले चार माह में ही ऐसी मन्दी पैदा की है कि चार लाख से अधिक कामगार अपने काम से हाथ धो चुके हैं। विकास के नाम पर निजीकरण और उदारीकरण की जो आँधी चलायी जा रही है, उससे अम्बानी-अडानी जैसे धनपशुओं की तो तिजोरियाँ भर रही हैं, लेकिन आम मेहनतकश लोगों को महंगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार की मार का सामना करना पड़ रहा है। मोदी सरकार के झूठे दावों का इतिहास इतना लम्बा हो चुका है कि अब मोदी के मुँह से "विकास" और "अच्छे दिन" जैसे शब्द सुनते ही देश में भय और शंका की लहर दौड़ जाती है। कश्मीर के बारे में भी मोदी सरकार के दावे उतने ही झूठे और फ़रेबी हैं। इसलिए इनका खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

नहीं सहेंगे इस तानाशाही को अब हम मज़दूर साथियो

मेरा नाम संजीव है। मैं उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर ज़िले के एक छोटे से गाँव का रहने वाला हूँ। मैं अभी मुम्बई में रहता हूँ, इससे पहले मैंने दिल्ली में दिहाड़ी मज़दूर के तौर पर थोड़े समय के लिए काम किया था। अभी मैं मुम्बई में एक चश्मे की दुकान पर काम करता हूँ। यहाँ पर मैं लगभग डेढ़ साल से काम कर रहा हूँ। दुकान पर काम करने का समय सुबह 10 बजे से रात के 10 बजे तक है ,यानी 12 घण्टे का है। जबकि इसके लिए मेरी पगार सिर्फ़ 7000 रुपये ही है।

मुझे ताज्जुब होता है कि कैसे किसी व्यक्ति को 7, 8, या 9 हज़ार रुपये के लिए 12-12 घण्टे काम करना पड़ता है और ऊपर से तमाम परेशानियों को सहन भी करना पड़ता है। जबकि इन सभी पैसों से उनकी ज़िन्दगी सिर्फ़ किसी तरह ही चलती है। यह सिर्फ़ मेरी ही कहानी नहीं है, बल्कि देश और दुनिया के उन 75 फ़ीसदी मेहनतकशों की भी कहानी है। जिनमें से कुछ लोग तो इससे भी बदतर हालत में रहते हैं। मैं देखता हूँ कि मुम्बई में लाखों लोग रोज़ लोकल ट्रेनों में जानवरों की तरह सफ़र करते हुए पूरी मुम्बई में काम करने के लिए जाते हैं। ये सब लोग चाल में रहते हैं या एक छोटे से कमरे में पाँच-छह लोग मिलकर रहते हैं। ये जिन रिहायशी इलाक़ों में रहते हैं, वहाँ गन्दगी और कचरों का अम्बार रहता है। जिसके चलते उनको तरह-तरह की बीमारियों का सामना करना पड़ता है। इन इलाक़ों में पीने के पानी के लिए भी किल्लत का सामना करना पड़ता है। मज़दूरों को ना तो ठीक से खाने-पीने को मिलता है और ना ही सोने का समय तय होता है। उनके जीवन के सारे सपने धरे के धरे ही रह जाते हैं। देर रात को आया हुआ मज़दूर जल्दी-जल्दी खा-पीकर सो जाता है और सुबह होते ही फिर से जल्दी-जल्दी काम पर भागने की तैयारी करता है। इस तरह से मज़दूरों को महज़ मशीन बनने के लिए मजबूर किया जाता है। यह एक बहुत बड़ी असमानता है, जहाँ एक तरफ़ पूँजीपति और धन्ना सेठों और नेताओं के लिए तो सारी सुख-सुविधाएँ – बिजली, पानी, सड़क, शिक्षा इत्यादि के साधन आसानी से मिल जाते हैं, जबकि मज़दूर वर्ग को इसके लिए जीवन-भर संघर्ष करना पड़ता है।

लेकिन सवाल है क्या हम मज़दूरों की इस दुर्दशा में कोई परिवर्तन आयेगा या फिर हमारी ज़िन्दगी ऐसे ही बीत जायेगी? क्या हमारे लिए ये पूँजीवादी सरकारें और नेता-मंत्री काम करेंगी? जवाब है – नहीं, ये नेता और मंत्री लोग बड़े-बड़े पूँजीपतियों और मालिकों धन्ना सेठों के लिए ही काम करते हैं। इनका मज़दूरों की ज़िन्दगी से कोई लेना-देना नहीं होता है। जबकि ये उल्टे मज़दूरों-किसानों को निचोड़ने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे और क़ानून बनाते हैं, जिससे उनकी ज़िन्दगी बद से बदतर होती जाती है। अतः इसके लिए हम मज़दूरों को एक साथ मिलकर एकजुटता के साथ इन नेताओं और पूँजीपति वर्गों के ख़िलाफ़ जनआन्दोलन खड़े करने के लिए संगठित होना पड़ेगा। इस पूँजीवादी तंत्र को गिराकर एक समाजवादी समाज की स्थापना करनी पड़ेगी। जिसमें सबको शिक्षा, रोज़गार, स्वास्थ, पानी, बिजली, मकान आदि की सुविधाएँ आसानी से मिल सके।

नहीं सहेंगे इस तानाशाही को अब हम मज़दूर

दिल्ली, मुम्बई हो, कलकत्ता या चेन्नयी के मज़दूर
तुमने हमको बहुत सताया किया बहुत मजबूर
अब तो मेरी बारी है नहीं बहुत दिन दूर
सदियों से हम गढ़ते रहे तुम्हारे लिए कोहिनूर
लेकिन तुमने कर दिये मेरे सपने चकनाचूर
घर को छीना, रोज़गार छीना, शिक्षा से किया दूर
जबकि इन सब चीज़ों पर तुम्हरी सत्ता ज़रूर
एक तरफ़ है चमचम महला जिसमें रहते हुज़ूर
दूसरी तरफ़ गन्दी बस्ती, जिसमें रहते हम मज़दूर
सड़क, रेल और कार बनाते महल उठाते हैं मज़दूर
लेकिन इन सब चीज़ों से हम क्यों हो जाते सुदूर
आख़िर कब तक क़ायम रहेगा शोषण का यह दस्तूर
आओ साथी, मिलकर सब कुछ समझे हम मज़दूर
नया दौर है इन्क़लाब का जो आयेगा ज़रूर
गर साथ दे दुनिया-भर के अब साथी मज़दूर

-संजीव
नालासोपारा, मुम्बई

वेतन संहिता अधिनियम 2019

(पेज 5 से आगे)

लिया जा सके। इसको लागू न करने की हालत में, सम्बन्धित अधिकारियों और मालिकों पर कठोर सज़ा का प्रावधान हो। न्यूनतम मज़दूरी से ऊपर तय की जाने वाली मज़दूरी एकतरफ़ा तरीक़े से तय किये जाने के बजाय उसे मज़दूरों के सामूहिक मोलतोल से तय किया जाये। ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों के भुगतान की ज़िम्मेदारी मुख्य नियोक्ता पर सख़्ती से लागू की जाये। और स्थायी, अस्थायी, ठेका, कैज़ुअल, दिहाड़ी – सभी प्रकार के मज़दूरों के लिए समय से भुगतान सुनिश्चित किया जाये। (मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के बारे में विस्तार से पढ़ने के लिए 'मज़दूर बिगुल' से माँगपत्रक मँगाकर पढ़ें।)

निष्कर्ष के तौर पर, इस समय क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा निश्चित ही हावी है। मगर, इतिहास हमें सिखाता है कि विपर्यय का यह दौर हमेशा-हमेशा के लिए नहीं हो सकता। चिरकाल तक तख़्त पर विराजमान होने का ख़्वाब देखने वाले तमाम आततायिओं को आम अवाम ने अनगिनत बार धूल चटायी है और आगे भी ऐसा ही होगा।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

भीषण बेरोज़गारी और तबाही झेलती दिल्ली की मज़दूर आबादी

दिल्ली में 29 औद्योगिक क्षेत्र हैं, जिनमें अधिकतर छोटे व मध्यम आकार के कारख़ाने हैं। इन औद्योगिक क्षेत्रों में दिल्ली की कुल 80 लाख मज़दूर आबादी का बड़ा हिस्सा काम करता है। इसके अलावा निर्माण से लेकर लोडिंग, कूड़ा बीनने व अन्य ठेके पर काम हेतु तमाम इलाक़ों में लेबर चौक पर मज़दूर खड़े रहते हैं। परन्तु आज इन सभी इलाक़ों में कामों में सुस्ती छायी हुई है, बल्कि यह मन्दी पिछले तीन सालों से छायी है। देश एक बड़े आर्थिक संकट की आगोश में घिर रहा है और इन इलाक़ों में काम की परिस्थिति और बिगड़ने जा रही है।

नोटबन्दी और जीएसटी व सीलिंग का पहला झटका

नोटबन्दी और जीएसटी से 2016 और 2017 में सबसे ज़्यादा बर्बादी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को ही झेलनी पड़ी। इसके बाद बड़ी संख्या में मज़दूरों की कारख़ानों से छँटनी हुई। वज़ीरपुर से लेकर बवाना, झिलमिल, मायापुरी, ओखला से लेकर तमाम जगहों पर फ़ैक्टरियाँ बन्द हुईं। फ़ैक्टरियों में एक लम्बे समय तक तो एक ही शिफ़्ट पर काम होता रहा। वज़ीरपुर में मालिकों ने उत्पादन कम कर दिया और जो काम पहले दो शिफ़्ट में चलता था, वह अब केवल एक शिफ़्ट में चल रहा था। इलाक़े में एक बड़ी आबादी की छँटनी हुई जो गाँव चली गयी और जब वापस आयी भी तो हालात नहीं सुधरे। इस क्रम में सस्ती मशीनरी के उपयोग के कारण व प्रदूषण सम्बन्धी सभी नियमों को ताक पर रखकर उत्पादन जारी रखा गया। 2017 से ही एनजीटी के छापे पड़ने शुरू हुए जो फ़ैक्टरियों के बन्द होने या एक शिफ़्ट चलने के पीछे एक और कारक सिद्ध हुआ। मायापुरी, चाँदनी चौक से लेकर वज़ीरपुर में ये छापे पड़े। इन तीनों कारणों के चलते कई फ़ैक्टरियों में काम बन्द हो गया। कई मालिकों ने केवल रात की शिफ़्ट में ही काम करवाना शुरू किया। यही वह दौर था जब बेरोज़गारी बढ़ती ही जा रही थी और सरकार इन्हें झूठला रही थी। मालिकों की एक संस्था ऑल इण्डिया मैन्युफ़ैक्चरर्स ऑर्गेनाइज़ेशन के 2018 में कराये एक सर्वे के अनुसार रोज़गार की संख्या एक तिहाई से कम हो गयी। मज़दूरों को यह आस थी कि नोटबन्दी और जीएसटी का असर ख़त्म होने के बाद फिर से काम बहाल हो जायेगा और एक बार फिर काम में तेज़ी आयेगी लेकिन इस साल में भी सभी औद्योगिक क्षेत्रों में अभी तक कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। इसके पीछे पूरी अर्थव्यवस्था का डाँवाडोल होना ज़िम्मेदार है। वहीं तमाम मज़दूर जो रोज़ ही ठेके पर काम पाते थे, उनको भी काम मिलने में दिक़्क़त रहने लगी है। 2018 तक मज़दूर दिल्ली के इन बड़े लेबर चौकों को छोड़कर नोएडा की तरफ़ जा रहे थे। वहीं तमाम छोटे लेबर चौकों का भी लम्बे समय तक यही हाल रहा है, नोटबन्दी के बाद से ही मज़दूरों को काम नहीं मिल रहा है। मज़दूर काम की होड़ में पहले 350 की दिहाड़ी को आज 200 रुपये तक में करने को तैयार हैं, परन्तु तब से अब तक यह परिस्थिति सुधरने का नाम ही नहीं ले रही है। इण्डिया स्पैण्ड को दिये गये साक्षात्कार में रिक्शा चालक सोनू ने कहा कि वो पहले महिपालपुर में निर्माण मज़दूर की तरह काम करता था और उसे 25 दिन काम मिल जाता था जिससे कि महीने का 12000 रुपये कमा लेता था, परन्तु अब यहाँ केवल रिक्शे ही खड़े होते हैं। बवाना से लेकर जीटी करनाल रोड तक मौजूद तमाम लेबर चौक पर मज़दूर बताते हैं कि नोटबन्दी और जीएसटी के बाद से काम मन्दा है। परन्तु इस क्षेत्र में भी 2019 आते-आते भी कोई तेज़ी नहीं आयी है। और अब इस क्षेत्र में भी मन्दी का असर दिख रहा है। न सिर्फ़ निर्माण क्षेत्र में बल्कि नोटबन्दी, जीएसटी और सीलिंग की मार करावल नगर के बादाम गोदामों, खारी बावली बाज़ार तक थी और 2019 में भी इन क्षेत्रों में भी मन्दी छायी है।

2019 की आर्थिक मन्दी विकराल रूप ग्रहण कर रही है

जैसा कि हमने पिछले अंक में ज़िक्र किया कि आर्थिक मन्दी के शुरुआती संकेत ग़ैर-बैंकीय फ़ाइनेंस सेक्टर में प्रकट हुए जिसका पहला शिकार आईएल एण्ड एफ़एस बनी थी और अब लगभग हर ऐसी फ़ाइनेंस कम्पनी संकट से जूझ रही है। एनपीए से जुझ रहे बैंकों ने रियल स्टेट में लोन देने में हाथ खड़े कर दिये जिस कारण इन्होंने फ़ाइनेंस कम्पनी की ओर रुख़ किया। परन्तु इनका ऋण चुकाने में असमर्थ रहे और ग़ैर-बैंकीय फ़ाइनेंस सेक्टर बर्बाद होना शुरू हो गया। रियल स्टेट सेक्टर भी तबाह है। इस कारण ज़्यादातर जगह बड़े निर्माण कार्य ठप्प पड़े हैं। ऑटोमाबाइल सेक्टर की गाड़ियों की बिक्री फ़ाइनेंस कम्पनी पर निर्भर थी और यहाँ इसलिए ही भयंकर तबाही मच रही है। साथ ही तमाम छोटे उद्योग-धन्धे भी तबाह हो रहे हैं। छोटे उद्योग, जिन्हें एमएसएमई कहा जाता है, भारत में इनकी कुल संख्या क़रीब 6 करोड़ है जिसमें लगभग 12 करोड़ मज़दूर कार्यरत थे। इन्हें चालीस प्रतिशत ऋण प्राइवेट बैंक और फ़ाइनेंस कम्पनी से मिलता था। इनमें भी छोटी इकाइयों को फ़ाइनेंस कम्पनी से ही लोन मिलता था और अब यहाँ भी ऋण न मिल पाने के कारण इनका संकट गहरा रहा है। इसके कारण छोटे फ़ैक्टरी मालिकों ने अपना उत्पादन कम कर दिया है और नोटबन्दी और जीएसटी और सीलिंग के बाद यह मन्दी बेरोज़गारी का कारण बन रही है। वज़ीरपुर में काम कर रहे विष्णु ने बताया कि वो अपने परिवार को लेकर इस साल मई माह में घर गया था और जून अन्त में वापस आया तो उसे स्टील लाइन में काम नहीं मिल रहा था। उसकी पत्नी को भी 1000 रुपये कम वेतन पर प्लास्टिक लाइन में काम मिला। विष्णु को आख़िरकार वज़ीरपुर में ही प्लास्टिक लाइन में काम मिला परन्तु कम पैसे और अलग क़िस्म के काम के कारण वह ज़्यादा काम नहीं कर पाया। ख़ैर उसे एक महीने की मशक्कत के बाद स्टील लाइन के ठण्डा रोला में काम मिल गया परन्तु पहले से कम वेतन पर। बवाना में गाँव से लौटे भगवान भाई को 20 दिन भी काम नहीं मिला तो वे रोहतक चले गये। संगम विहार का कपड़ा उद्योग लगभग तबाह हो चुका है। द्वारका में रौनक सेक्टर के अपार्टमेण्ट में जिस रेट पर गाड़ी साफ़ करता था, उससे कम में काम करने को कई नौजवान तैयार हैं। खजुरी में कारपेण्टर का काम कर रहे शफ़ीक़ को अब महीने में मुश्किल से 10 दिन ही काम मिल पाता है। इस मन्दी की मार समूचे मज़दूर वर्ग पर पड़ रही है। चाहे मज़दूर खारी बावली में मसाला ट्रक से उतारता हो, वज़ीरपुर में गर्म रोला में काम करता हो, बवाना में प्लास्टिक के दाने से चप्पल बनाता हो या झिलमिल में कॉपर के तार ढालता हो – मन्दी की मार सब पर है। सरकार इस मन्दी का बोझ मज़दूर पर डाल रही है और अगर मज़दूर संगठित होकर संघर्ष नहीं करते तो हम और अधिक तबाह-बर्बाद होंगे। पूरी दिल्ली में अलग-अलग क्षेत्रों में मौजूद मज़दूर आबादी को एकजुट होकर बेरोज़गारी और कम वेतन व काम की परिस्थिति के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरना ही होगा। बुरा वक़्त अपने आप नहीं ढल जायेगा, उसे मज़दूरों को लड़कर बदलना ही होगा।

वज़ीरपुर की एक और फ़ैक्टरी में करण्ट से एक मज़दूर की मौत! फिर भी ख़ामोशी!

कब तक चुप रहेंगे ग़ुलामों की तरह?

जब तक सुरक्षा के इन्तज़ाम नहीं होते मज़दूर मरते रहेंगे!

03 अगस्त 2019 को शेड-103 फ़ैक्टरी में पॉलिश का काम करने वाले एक मज़दूर की करण्ट लगने से मौत हो गयी। दयाराम नाम का यह मज़दूर उत्तर प्रदेश के महराजगंज का मूल निवासी था और वज़ीरपुर औद्योगिक क्षेत्र में बी-ब्लॉक में किराये पर कमरा लेकर रह रहा था, बिजली के तार की सही तरीक़े से व्यवस्था न होने के कारण करण्ट मशीन के स्टार्टर में भी आ गया और जब दयाराम ने मशीन चालू करने के लिए स्टार्टर को अपने हाथ से पकड़ा उसी समय वह करण्ट की चपेट में आ गया और तत्काल उसकी मौत हो गयी। हादसा होने के बाद फ़ैक्टरी मालिक गुलाबचन्द ने अपने आपको बचाने के लिए अन्य मज़दूरों को डराकर कहा कि कोई पूछे तो बताना कि हार्टअटैक के कारण बेहोश हो गया है, नहीं तो काम से निकाल दिये जाओगे। बाद में मज़दूरों ने 100 नम्बर पर डायल कर पुलिस को यह जानकारी दी, जिसके बाद मृत शरीर को पोस्टमार्टम के लिए बाबू जगजीवन राम अस्पताल में लाया गया। इससे पहले पुलिस मालिक पर एफ़आईआर दर्ज करने को तैयार नहीं थी, परन्तु जब पोस्टमार्टम की रिपोर्ट में बिजली के करण्ट से मौत की पुष्टि हुई तब जाकर मालिक के ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज की गयी। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन के सदस्यों ने दौरान मालिक की फ़ैक्टरी का घेराव किया व क़ानूनी प्रक्रिया में लगातार नज़र रखी ताकि पुलिस इस मसले को कहीं रफ़ा-दफ़ा न कर दे और अन्तत: मालिक को धारा 304 ए के तहत गिरफ़्तार किया गया। 7 अगस्त को स्थानीय श्रम विभाग में यूनियन ने उपश्रमायुक्त को ज्ञापन सौंपकर फ़ैक्टरी की जाँच करने की माँग भी की। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन के प्रतिनिधिमण्डल ने घटना पर रोष व्यक्त करते हुए निम्नलिखित माँग की –

1. मृतक मज़दूर दयाराम के परिवार को मुआवज़ा देने के लिए श्रम विभाग आवश्यक कार्रवाई की प्रक्रिया को सुनिश्चित करे।

2. मालिक, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन और श्रम विभाग की एक त्रिपक्षीय कमेटी गठित की जाये जो सम्बन्धित फ़ैक्टरी की सुरक्षा व्यवस्था की जाँच करे।

3. उक्त कमेटी द्वारा पूरे वज़ीरपुर की फ़ैक्टरियों में सुरक्षा व्यवस्था की जाँच की जाये।

एक और मौत और हम लोग बस यूँ ही काम कर रहे हैं! यह हादसा कोई दुर्घटना नहीं बल्कि हत्या है। और ऐसी हत्याएँ वज़ीरपुर की फ़ैक्टरियों में आये दिन होती रहती है। लेकिन फिर भी हम लोग मुर्दों की तरह शान्त बैठे रहते हैं। साथियो, हम इंसान हैं, कोई मवेशी नहीं कि हमारी लाश ऐसे ही सड़क पर पड़ी रहे। आख़िर हम लोग इतने शान्त और चुप क्यों हैं, जब हम फ़ैक्टरियों में रोज़-रोज़ मारे जा रहे हैं? कब तक हम इन मौतों पर लाशों की तरह चुप रहेंगे? शेड-103 फ़ैक्टरी के मज़दूर की मौत के बाद उसका शरीर ठण्डा पड़ चुका था। पर हमारे शरीर में तो गरम ख़ून दौड़ रहा है ना! हम तो ज़िन्दा हैं? हम लाश नहीं हैं। अगर लाश नहीं हैं, तो अब समय है उठ खड़ा होने का।

इन मौतों का दोषी कौन है?

इन मौतों के दोषी वज़ीरपुर के मालिक हैं जो अपने मुनाफ़े को बचाने के लिए हमारी सुरक्षा के इन्तज़ाम पर सौ रुपये तक भी ख़र्च नहीं करते हैं। अपने दाँतों से सिक्के दबाकर बैठे इन मालिकों की हवस ने ही हमारे मज़दूर साथी की जान ली है। और साथ ही श्रम विभाग और सरकार भी उतनी ही ज़िम्मेदार है क्योंकि बिना इनकी मिलीभगत के ये मालिक ऐसी हरकत नहीं कर सकते और ये इन पर किसी प्रकार की कार्रवाई भी नहीं होती है। इस बात को समझने के लिए हमें श्रम क़ानूनों और उनको लागू करने की प्रक्रिया को देख लेना चाहिए।

दिल्ली में मज़दूर कितने सुरक्षित हैं

दिल्ली में एक बहुत छोटी आबादी की श्रम क़ानूनों तक पहुँच है। 2015 की कैग की रिपोर्ट यह हक़ीक़त सामने ला देती है। इस रिपोर्ट के अनुसार कारख़ाना अधिनियम, 1948 (Factories Act, 1948) का भी पालन दिल्ली सरकार के विभागों द्वारा नहीं किया जा रहा है – वर्ष 2011 से लेकर 2015 के बीच केवल 11-25% पंजीकृत कारख़ानों का निरीक्षण किया गया। इनमें भी जो मज़दूर शिकायत करते है, उनमें से एक बेहद छोटी आबादी को ही न्याय मिलता है। वैसे तो काग़ज़ों में श्रम क़ानून के मुताबिक़ काम के घण्टे 8 हैं लेकिन वास्तविकता में हम जानते हैं कि ख़तरनाक कार्य स्थिति में मज़दूर 12 से 14 घण्टे तक काम करते रहते हैं। भारत में 93 प्रतिशत से ज़्यादा मज़दूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं जहाँ श्रम क़ानून नाम की कोई चीज़ मौजूद नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में हर वर्ष कार्य स्थल पर दुर्घटनाओं की वजह से 48 हज़ार मज़दूरों की मौत होती है। इनमें सबसे ज़्यादा क़रीब 24.2 प्रतिशत निर्माण उद्योग क्षेत्र के मज़दूरों की जान जाती है। दरअसल ये दुर्घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि मुनाफ़े की हवस में की गयी मज़दूरों की हत्याएँ हैं। दिल्ली में औद्योगिक क्षेत्रों में ही रोज़ाना मशीनों से कटकर या फिर आग लगने की वजह से मज़दूरों की मौतें होती हैं। फ़ैक्टरी मालिकों द्वारा सुरक्षा के उपकरण न मुहैया कराने और सुरक्षा के सभी मानकों की खुलेआम धज्जियाँ उड़ाने की वजह से मौतों का चक्र जारी रहता है। उत्पादन की गति तेज़ करने के मक़सद से सेंसर आदि को हटाया जाता है, जिसकी वजह से मज़दूरों के अंग-भंग होते हैं और कभी-कभी जान तक चली जाती है। पूँजीपति का एकमात्र मक़सद होता है अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाना और अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए वे मज़दूरों को कम से कम मज़दूरी में अधिक से

(पेज 4 पर जारी)

कर्नाटक के गारमेण्ट मज़दूरों का उग्र आन्दोलन और लम्बे संघर्ष की तैयार होती ज़मीन

– बेबी कुमारी

गत 24 जुलाई को कर्नाटक के हसन ज़िले में हिम्मतसिंग गारमेण्ट फ़ैक्टरी के मज़दूरों ने अपनी माँगों को लेकर प्रदर्शन किया। प्रदर्शन में 200 मज़दूर शामिल थे। प्रदर्शन के दौरान पुलिस ने लाठीचार्ज किया, हवाई फ़ायरिंग की और आँसू गैस के गोले भी दागे। मज़दूरों का ग़ुस्सा भड़क उठा और उन्होंने भी जवाब में पत्थरबाज़ी की। लेकिन, मज़दूरों को ऐसा क़दम उठाने पर क्यों बाध्य होना पड़ा? आख़िर क्यों मज़दूर अपनी माँगों को लेकर सड़क पर उतरने को मजबूर हुए? ऐसा इसलिए हुआ कि उक्त फ़ैक्टरी के मज़दूर पिछले 1 महीने से बिना वेतन के काम कर रहे थे। और इतना ही नहीं, जैसा कि कमोबेश हर फ़ैक्टरी, हर वर्कशॉप की कहानी है; फ़ैक्टरी मैनेजमेण्ट उनके साथ गाली-गलौज, मारपीट भी कर रहा था। आख़िर सहने की भी हद होती है। हिम्मतसिंग गारमेण्ट फ़ैक्टरी के मज़दूरों ने भी दिखा दिया कि हम भी इंसान हैं। और यह घृणित दासता हमें किसी भी रूप में स्वीकार नहीं।

कोई इसे महज़ एक घटना कह सकता है, जो इसलिए घटी कि एक फ़ैक्टरी के मज़दूरों का शोषण हो रहा था। पर बात इतनी ही नहीं है। इस तरह की घटनाओं के पीछे दमन और शोषण की निरन्तर चलती चक्की ज़िम्मेदार होती है। जब बर्दाश्त की हदें पार हो जाती हैं तो मज़दूरों का ग़ुस्सा फूट पड़ता है। कर्नाटक के गारमेण्ट सेक्टर में मज़दूरों के काम के बदतर हालात और बर्बर तथा नग्न शोषण पूरे सेक्टर का सच है।

फ़ैशनेबुल, ब्राण्डेड कपड़ों के निर्माण का सच

कर्नाटक की गारमेण्ट इण्डस्ट्री से तैयार होने वाले कपड़ों का निर्यात यूरोप के अधिकांश देशों में होता है। यहाँ तैयार किये जाने वाले कपड़ों पर बड़ी कम्पनियाँ अपनी लेबलिंग करती हैं और उसे बाज़ार में डिस्काउण्ट या रियायती दरों पर बेचा जाता है। लेकिन, यहाँ के मज़दूरों की हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी उनकी न्यूनतम मज़दूरी सिर्फ़ 8,000 रुपये है। भारत सरकार की रंगराजन कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार यह वेतन शहरी ग़रीबी रेखा, जो 10,800 रुपये प्रतिमाह है, से भी 25 प्रतिशत नीचे है। यह 8,000 रुपये भी समय से भुगतान न किये जायें तो मज़दूरों का ग़ुस्सा फूटना जायज़ है। पिछले लम्बे समय से गारमेण्ट सेक्टर के मज़दूर न्यूनतम मज़दूरी बढ़ाये जाने को लेकर भी संघर्षरत हैं।

1948 के न्यूनतम मज़दूरी एक्ट के अनुसार राज्य सरकार को हर तीन से पाँच सालों में न्यूनतम मज़दूरी की दर बढ़ानी होती है। लेकिन, पिछले 44 सालों में 8 बार की जगह सिर्फ़ 4 बार ही न्यूनतम मज़दूरी बढ़ायी गयी है। वह भी लगातार संघर्षों के बाद ही। सरकारें आती रहीं और जाती रहीं लेकिन किसी के लिए भी गारमेण्ट सेक्टर के मज़दूर और उनकी बदहाली के जैसे कोई मायने नहीं।

4.5 लाख मज़दूर गारमेण्ट सेक्टर में काम करते हैं जिनमें से 3.5 लाख बंगलुरु के रहने वाले हैं। कुल मज़दूरों का 90 प्रतिशत महिला मज़दूर हैं। गारमेण्ट इण्डस्ट्री से जुड़े अन्य क्षेत्रों जैसे प्रिण्टिंग, डाइंग और स्पिनिंग (बुनाई) में 10 लाख लोग काम करते हैं। देश के इतने बड़े गारमेण्ट सेक्टर के मज़दूरों के हालात की ओर न तो राज्य सरकार का ध्यान गया है और न ही केन्द्र सरकार का। हाँ, मालिकों और मैनेजमेण्ट की सुविधाओं का पूरा ध्यान रखा गया है। 22 फ़रवरी 2018 को सिद्धरमैया नीट कांग्रेस सरकार ने न्यूनतम मज़दूरी को बढ़ाने के लिए एक ड्राफ़्ट नोटिफ़िकेशन जारी किया। लेकिन, 24 मार्च को यह नोटिफ़िकेशन वापस ले लिया गया। इसे वापस लेते हुए श्रम विभाग ने यह कहा कि गारमेण्ट सेक्टर के फ़ैक्टरी मालिकों को न्यूनतम वेतन बढ़ाये जाने को लेकर आपत्ति है। मालिकों के अनुसार कर्नाटक में न्यूनतम मज़दूरी की दर भारत के किसी अन्य राज्य से ज़्यादा है। और अगर न्यूनतम मज़दूरी बढ़ायी जाती है तो उन्हें घाटा उठाना पड़ेगा। श्रम विभाग ने न तो इस सन्दर्भ में मज़दूरों से बात करना मुनासिब समझा और न ही उनके प्रतिनिधियों से। दरअसल, श्रम विभाग को चिन्ता इस बात की है कि मज़दूरों की मेहनत को निचोड़कर मालिक जो मुनाफ़ा कमाते हैं, वह कम न हो जाये। मालिक और पूँजीपति को जब मुनाफ़े में कमी होती है तो वे घाटा-घाटा की रट लगाते हैं। जिन मज़दूरों के दम पर उन्हें मुनाफ़ा मिलता है, उन्हीं मज़दूरों को सम्मानपूर्वक ज़िन्दगी जीने लायक मज़दूरी देने में उन्हें सबसे ज़्यादा घाटा दिखायी देने लगता है। सच तो यह है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूर को इतना ही दिया जाता है कि वह किसी तरह ज़िन्दा रहे और वापस उत्पादन में लग जाये।

कार्यस्थल के बदतर हालात

पूरे गारमेण्ट सेक्टर में कार्यस्थल के हालात अमानवीय हैं। जैसा हिम्मतसिंग गारमेण्ट फ़ैक्टरी में हुआ, वह हर फ़ैक्टरी की कहानी है। मज़दूरों के साथ गाली-गलौज, मारपीट आम बात है। हमने ऊपर बताया है कि पूरे सेक्टर में महिला मज़दूरों की संख्या ज़्यादा है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के अध्ययन के मुताबिक़ सात गारमेण्ट मज़दूर परिवारों में से एक परिवार महिला मज़दूर की कमाई पर आश्रित है। उनके साथ तो और भी ज़्यादा बदसलूकी की जाती है। यौन हिंसा, छेड़छाड़ रोज़मर्रा की घटनाएँ हैं। इतना ही नहीं उन्हें ज़बरदस्ती काम करने और ओवरटाइम करने पर भी मज़बूर किया जाता है। उनके दोपहर का खाना खाने, चाय पीने, शौचालय जाने तक के समय में से कटौती की जाती है। वर्कलोड बढ़ा दिया जाता है और उत्पादन तेज़ करने की माँग की जाती है। 1 घण्टे में उन्हें 100 से 150 तक शर्टें तैयार करनी होती हैं। काम पूरा न होने पर अपमान और जिल्लत झेलना पड़ता है। दरअसल मुनाफ़े की रफ़्तार को बढ़ाने के लिए मज़दूरों के आराम करने के समय में कटौती करके काम के घण्टे को बढ़ाया जाता है। फ़ैक्टरियों में खुलेआम श्रम क़ानूनों का उल्लंघन होता है और श्रम विभाग चुपचाप देखता रहता है। अगर इस अपमान और जिल्लत के ख़िलाफ़ मज़दूर आवाज़ उठाते हैं तो उन्हें ही दोषी ठहरा दिया जाता है।

जीना है तो लड़ना ही होगा

कर्नाटक में मौजूदा सरकार में भी हालात सुधरने वाले नहीं, बल्कि और भी बदतर होते जाने की पूरी सम्भावना है। बी एस येदियुरप्पा के नेतृत्व में वहाँ भी भाजपा की सरकार है। और दुबारा केन्द्र की सत्ता में आने के बाद मोदी सरकार ने सबसे पहले श्रम क़ानूनों में संशोधन करने और मालिकों को फ़ायदा पहुँचाने का ही काम किया है। गारमेण्ट सेक्टर में अतिउत्पादन के संकट से पैदा हुई मन्दी लगातार बनी हुई है। ऐसे में लगातार छँटनी, बेरोज़गारी और वर्कलोड से तंग आकर मज़दूर अगर संघर्ष में उतरते हैं तो उनका बेसाख्ता दमन किया जायेगा। यानी डण्डे के बल पर पूँजीपतियों की सुविधा और मुनाफ़े का पूरा ध्यान रखा जायेगा।

इसलिए यह ज़्यादा ज़रूरी है कि मौजूदा समय में मज़दूर अपनी एकजुटता पूरे सेक्टर के स्तर पर क़ायम करें। जिस तरह हिम्मतसिंग फ़ैक्टरी के आन्दोलन का दमन कर दिया गया, अगर इस लड़ाई को पूरे सेक्टर की लड़ाई में बदल दिया जाये तभी संघर्ष को एक दिशा दी जा सकती है। और लड़ना ही हमारे जीने की पहली शर्त है।

कारख़ानों में काम करने वाली स्त्री मज़दूरों के बुरे हालात

भारतीय समाज में कुल आबादी का 48.5 प्रतिशत हिस्सा औरतों का है। कुल उत्पादन में भाग लेने वालों में से 28.5 प्रतिशत हिस्सा औरतों का है। उत्पादन में औरतों की हिस्सेदारी को लेकर विश्व स्तर पर 131 देशों में से भारत का स्थान 120वें नम्बर पर है और यहाँ पर औरत मज़दूरों के काम के घण्टे मर्द मज़दूरों के मुक़ाबले में ज़्यादा हैं और उसी काम के लिए दिया जाने वाला वेतन मर्द मज़दूरों के मुक़ाबले में 62 प्रतिशत कम है। उत्पादन में करोड़ों स्त्रियाँ और मर्द लगे हैं। हालात तो सबके बदतर हैं लेकिन मर्दों के मुक़ाबले स्त्री मज़दूरों के हालात तो और भी बदतर हैं।

सूरत की एक कपड़ा फ़ैक्टरी में काम करने वाली स्त्री मज़दूर ने बीबीसी को बताया कि काम की जगह पर शौचालय तो है पर उसे ताला लगा रहता है। उसे दिन में सिर्फ़ दो बार ही खोला जाता है। वे हमें पेशाब करने जाने से रोकते हैं। इसलिए हम पानी नहीं पीते और पेशाब का ज़ोर पड़ने पर उसे रोके रखना पड़ता है। माहवारी के दिनों में औरतें काम पर नहीं आतीं, जब वे छुट्टी माँगने जाती हैं तो उनके पैसे काट लिये जाते हैं। वड़ोदरा के एक कारख़ाने में लक्ष्मी 10 घण्टों की शिफ़्ट में काम करती है। उसका कहना है कि "मर्दों और औरतों के साथ अलग-अलग व्यवहार किया जाता है। हमें सिर्फ़ 150 रुपये दिये जाते हैं, जबकि साथ काम करने वाले मर्दों को 300 रुपये दिये जाते हैं। औरतों के लिए अलग से शौचालय भी नहीं है।

सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ तमिलनाडु के 40,000 कपड़े और कताई के कारख़ानों में 3 लाख मज़दूर औरतें काम करती हैं। थॉमसन रिट्रीयूज़ फाउण्डेशन की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार तमिलनाडु के कपड़ा कारख़ानों में ग़ैर-क़ानूनी ढंग से मज़दूर औरतों को माहवारी के वक़्त दर्द-निवारक गोलियाँ दी जाती हैं, ये गोलियाँ उन्हें निगरानी में ही खानी पड़ती हैं। फाउण्डेशन की तरफ़ से 15 से 25 साल की उम्र की 100 औरतों से बातचीत की गयी। उनका कहना था कि उन्हें ये गोलियाँ खाते हुए महीनों से सालों बीत गये हैं। उनके पास गोलियाँ खाने के बिना और कोई रस्ता नहीं क्यूँकि उन्हें तनख़्वाह काटने की धमकी दी जाती है। ये गोलियाँ उस वक़्त तो दर्द को रोक देती हैं, पर एक लम्बे वक़्त तक खाते रहने से मानसिक तौर पर बीमार होने से लेकर, बाँझ होना, गर्भ में ख़राबी होना और माहवारी के रुकने जैसे भयंकर नतीजे सामने आते हैं। ये गोलियाँ इसलिए नहीं दी जाती कि मालिकों को मज़दूर औरतों की सेहत का फ़िक्र है बल्कि इसलिए दी जाती हैं, ताकि माल जल्दी से जल्दी तैयार हो, कोई मज़दूर औरत छुट्टी न करे, काम बिना रोक-टोक के हो और मण्डी में वक़्त के साथ पहुँचाया जा सके। क्यूँकि मालिक मण्डी में बना रहना चाहता है और यह कम समय में ज़्यादा उत्पादन करके, सस्ती उजरतों पर काम करवाके ही सम्भव हो सकता है। इसीलिए मालिकों के बीच ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा हासिल करने की होड़ ने मज़दूर औरतों और बच्चों को कम तनख़्वाह वाले ग़ुलामों के रूप में बदल दिया है। जिस व्यवस्था में हम साँस ले रहे हैं उसकी जड़ें मुनाफ़े की चक्की में हैं जो मज़दूर वर्ग को पीसती रहती है और दौलत के अम्बार लगाती रहती है और मुट्ठी-भर लोग इस चक्की के मालिक हैं। इसे बदलने की सिर्फ़ एक शर्त है संगठित होना और अधिकारों के लिए लड़ना।

– रविन्दर

कब तक चुप रहेंगे ग़ुलामों की तरह?

(पेज 3 से आगे)

अधिक काम करवाता है। ये बात किसी से नहीं छुपी है कि श्रम विभाग और सरकारें किस तरह से इन फ़ैक्टरी मालिकों का ही पक्ष लेती हैं और इनको बचाने का काम करती हैं। दूसरी तरफ फ़ैक्टरियों की संख्या के मुकाबले फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर की संख्या बेहद कम है। एक आँकड़े के अनुसार क़रीब 506 पंजीकृत फ़ैक्टरियों पर एक फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर है। जबकि हम सभी जानते हैं कि अपंजीकृत फ़ैक्टरियाँ की संख्या भी बहुत ज़्यादा है और वास्तव में ये आँकड़ा और भी ख़राब हो सकता है। दिल्ली की ही बात करें तो यहाँ क़रीब 80 लाख मज़दूर आबादी पर 10-11 फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर हैं! समझा जा सकता है कि ये चाहकर भी उन सारी फ़ैक्टरियों का निरीक्षण नहीं कर सकते। हज़ारों ग़ैर-क़ानूनी और अपंजीकृत फ़ैक्टरियाँ, सरकार, पुलिस और श्रम विभाग की जानकारी और सहमति के बिना चलना सम्भव ही नहीं है। दिल्ली में आम आदमी का चोगा पहनकर सत्ता में आये केजरीवाल के ही कई विधायक और मंत्री हैं जिनकी ख़ुद की फ़ैक्टरियों में कोई श्रम क़ानून नहीं लागू होता है और सुरक्षा के इन्तज़ाम की तो बात ही करना बेमानी होगा। अब ऊपर से मोदी सरकार रहे-सहे श्रम क़ानून भी ख़त्म कर देने की तैयारी में है। मतलब अब ये गैर-क़ानूनी मौतों को भी क़ानूनी जामा पहनाने की तैयारी चल रही है!

मोदी सरकार द्वारा श्रम क़ानूनों पर हमले को रोकना होगा

नयी श्रम संहिता के अनुसार तो फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर द्वारा फ़ैक्टरियों का निरिक्षण करना बाध्यकारी नहीं रह जायेगा। अब सिर्फ़ मालिक यह कह दे कि उनकी फ़ैक्टरी में 10 से कम मज़दूर काम करते हैं और फ़ैक्टरी में सब कुछ ठीक है तो उसकी बात मान ली जायेगी! मतलब अब चोर ख़ुद अपने बारे में फ़ैसला सुनायेगा! अब कभी भी किसी मज़दूर को बिना वजह बताये काम से बाहर निकाला जा सकेगा और इसके खिलाफ़ श्रम विभाग में शिकायत भी नहीं की जा सकती है। आज हम जिन सुरक्षा के इन्तज़ामों की माँग कर रहे हैं, वे भी हमसे क़ानूनी तौर पर छीनने की तैयारी है। साथियो, हमें सुरक्षा के इन्तज़ाम के लिए एक संघर्ष की शुरुआत करनी होगी। हाल ही में हम ऐसा कर पाने में असफल रहे हैं। क्यों? क्योंकि हम एकजुट नहीं हैं। 2014 की हड़ताल के बाद से हम आज मालिकों के आगे कमजोर हुए हैं। हमें फिर से अपनी फ़ौलादी एकता क़ायम करनी होगी। तभी हम न सिर्फ़ वज़ीरपुर के मालिकों को झुका पायेंगे, बल्कि सरकार द्वारा श्रम क़ानूनों को कमजोर बनाने के प्रयासों को भी रोक पायेंगे।

– बिगुल टीम

वेतन संहिता अधिनियम 2019 – मज़दूर अधिकारों पर बड़ा आघात

– शिशिर

संघी सरकार सत्ता में दोबारा आते ही मुस्तैदी से अपने पूँजीपति आकाओं की सेवा में लग गयी है। पूँजीपतियों के हितों वाले विधेयक संसद में धड़ाधड़ पारित किये जा रहे हैं। सूचना-अधिकार संशोधन और यूएपीए संशोधन जैसे विधेयकों से एक तरफ़ आम अवाम की आवाज़ पर शिकंजे कसने की कोशिश की गयी है, दूसरी तरफ़ वेतन संहिता विधेयक से उनके न्यूनतम वेतन सम्बन्धी अधिकारों को एक तरह से ख़त्म ही कर दिया गया है। इसके अलावा मज़दूरों पर हर तरह से नकेल कसने के लिए और उनकी ज़िन्दगियों को पूरी तरह से मालिकों के रहमोकरम पर छोड़ देने के लिए 'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति विधेयक' भी पेश किया जा चुका है, जबकि औद्योगिक सम्बन्ध और सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित बिल पेश किये जाने बाक़ी हैं। व्यवसाय में सुलभता के लिए सरकार ने 44 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों को इन्हीं चार श्रम संहिताओं में बाँधने का फ़ैसला किया है।

सरकार से पूछा जाना चाहिए कि केवल मालिकों की ही सुलभता का ख़याल क्यों है? अगर कई क़ानूनों को मिलाकर कामकाज आसान किया जा रहा है, तो आख़िर किसका कामकाज आसान किया जा रहा है? पुराने क़ानूनों में मज़दूरों के कुछ अधिकारों को सुनिश्चित करने वाले उन हिस्सों को धड़ल्ले से बाहर क्यों किया जा रहा है जिसे मज़दूर-वर्ग ने बेहद जुझारू संघर्षों और असंख्य क़ुर्बानियों के दम पर हासिल किया था? सरकार चाहती, तो मज़दूरों के लिए भी ऐसा इकलौता क़ानून बना सकती थी जिससे वे नौकरशाही के चंगुल में न फँसते और उनके लिए आततायी मालिकों की शिकायत करना और उन्हें सज़ा दिलाना आसान हो जाता!

पिछली लोकसभा में भी मोदी सरकार ने प्रशिक्षु क़ानून (अप्रेण्टिस ऐक्ट) में संशोधन करके मालिकों को 30% मज़दूरों को बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के प्रशिक्षु के रूप में भर्ती करके उनका अति-शोषण करने की खुली छूट दे दी थी। इसी मज़दूर-विरोधी कारनामों की फ़ेहरिस्त को बढ़ाते हुए सरकार ने वेतन संहिता अधिनियम लागू किया है।

वेतन-संहिता अधिनियम – पूँजीपतियों को मज़दूरों की हड्डियाँ निचोड़ने की छूट देना वाला क़ानून

इस अधिनियम के लागू होने के साथ ही चार पुराने अधिनियमों – वेतन भुगतान अधिनियम 1936, न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948, बोनस भुगतान अधिनियम 1965, और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 को ख़त्म कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत पूरे देश के लिए वेतन का न्यूनतम तल-स्तर निर्धारित किया जायेगा। सवाल है कि तल-स्तर निर्धारित करने के लिए तरीक़ा क्या अपनाया गया है। हालाँकि, सरकार का कहना है कि एक त्रिपक्षीय समिति इस तल-स्तर का निर्धारण करेगी, मगर **इस सरकार के श्रम मंत्री पहले ही नियोक्ताओं के प्रति अपनी उदारता दिखाते हुए प्रतिदिन के लिए तल-स्तर मज़दूरी 178 रुपये करने की घोषणा कर चुके हैं।** यानी, इस न्यूनतम मज़दूरी के हिसाब से महीने में 26 दिन काम करने वाले की मासिक आमदनी हुई महज़ 4,628 रुपये! यह राशि ख़ुद इसी सरकार की विशेषज्ञ समिति के द्वारा सुझायी गयी 9,750 रुपये से 11,622 रुपये के न्यूनतम मासिक आमदनी से बेहद कम है, और आर्थिक सर्वेक्षण में सुझाये गये 18,000 रुपये के मासिक वेतन का एक-चौथाई मात्र है। सातवें वेतन आयोग ने भी सरकारी कर्मचारियों के लिए न्यूनतम वेतन 18,000 रुपये ही तय किये हैं।

15वें राष्ट्रीय श्रम सम्मलेन (1957) की सिफ़ारिशों के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी, खाना-कपड़ा-मकान आदि बुनियादी ज़रूरतों के आधार पर तय होनी चाहिए। आगे चलकर, सुप्रीम कोर्ट के 1992 के एक निर्णय (रेप्टाकोसब्रेट्ट एण्ड कं. बनाम मज़दूर) के अनुसार इसमें बच्चों की शिक्षा, दवा, मनोरंजन, बुढ़ापे के इन्तज़ाम आदि कारकों को भी शामिल किया गया था। केन्द्र और राज्य सरकारें तो वैसे भी इन निर्देशों का पालन नहीं करती थीं, अब मोदी सरकार ने उसी को क़ानूनी अमलीजामा पहना दिया है। यहाँ तक कि सरकार द्वारा नियुक्त की गयी विशेषज्ञ समिति ने भी न्यूनतम मज़दूरी तय करने के लिए इन दिशा-निर्देशों के साथ छेड़छाड़ करते हुए कैलोरी की ज़रूरी खपत को 2700 की बजाय 2400 पर रखा है और तमाम बुनियादी चीज़ों की लागत भी 2012 की क़ीमतों के आधार पर तय की है। पर सरकार के गृहमंत्री सन्तोष गंगवार उससे भी नहीं सन्तुष्ट हुए और न्यूनतम तल-स्तर को 178 रुपये करने का ऐलान किया जो समिति की सिफ़ारिश का लगभग आधा मात्र है।

नियमों का उल्लंघन करने वाले मालिकों की निगरानी किये जाने के उपक्रम को बेहद कमज़ोर बना दिया गया है।

इस संहिता में न्यूनतम मज़दूरी की पाँच-पाँच सालों के अन्तर पर समीक्षा करने की बात की गयी है। जबकि आलम यह है कि देश में साल-दर-साल महँगाई आसमान छू रही है।

समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 यह सुनिश्चित करता था कि वेतन के मामले में या भर्ती करने या नौकरी की शर्तों में किसी तरह का लिंगभेद न हो। मगर वेतन संहिता से यह बात पूरी तरह से हटा दी गयी है और अब मालिकों को औरतों का अतिरिक्त श्रम लूटने की क़ानूनी छूट दे दी गयी है।

ऐसे मज़दूर-विरोधी अधिनियम, जो कहीं से भी मज़दूर हितों में हैं ही नहीं, उनमें किसी भी तरह के मज़दूरों के शामिल होने या न होने से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता। पर सरकार इस अधिनियम में असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को शामिल करके ऐसा जता रही है मानो उसने मज़दूरों को किसी बड़ी कल्याणकारी-योजना से जोड़ा हो।

व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति विधेयक – सरकार को मज़दूरों की जान की कोई परवाह नहीं

वेतन संहिता विधेयक के साथ ही पेश किये गये 'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति विधेयक' में तो असंगठित मज़दूरों को कोई जगह ही नहीं दी गयी है। केवल 10 मज़दूरों से ज़्यादा को काम पर रखने वाले कारख़ानों पर ही यह लागू होगा, यानी 90% मेहनतकश जनता इस अधिनियम के दायरे से बाहर होगी। नाम के उलट, इस विधेयक में मज़दूरों की सुरक्षा के साथ और ज़्यादा खिलवाड़ किया गया है। इस विधेयक में सुरक्षा समिति बनाये जाने को सरकार के विवेक पर छोड़ दिया गया है, जो पहले कारख़ाना अधिनियम, 1948 के हिसाब से अनिवार्य था। इस पुराने अधिनियम में स्पष्ट किया गया था कि मज़दूर अधिकतम कितने रासायनिक और विषैले माहौल में काम कर सकते हैं, जबकि नया विधेयक में रासायनिक और विषैले पदार्थों की मात्रा का साफ़-साफ़ ज़िक्र करने के बजाय उसे निर्धारित करने का काम राज्य सरकारों के ऊपर छोड़ दिया गया है। मालिकों की सेवा में सरकार इस हद तक गिर गयी है कि इस विधेयक के अनुच्छेद 47(2) के मुताबिक़, अगर कोई ठेकेदार, मज़दूरों के लिए तय किये गये काम के घण्टे, वेतन और अन्य ज़रूरी सुविधाओं की शर्तें नहीं पूरी कर पाता, तो भी उस ठेकेदार को 'कार्य-विशिष्ट' लाइसेंस दिया जा सकता है। हर तरह के उद्योग में अलग-अलग क़िस्म के ख़तरे होते हैं, मगर इस बिल में उन विशिष्टताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि आरएसएस की ही ट्रेड यूनियन 'भारतीय मज़दूर संघ' भी मज़दूरों के सामने इस विधेयक का दिखावटी विरोध कर रही है।

लगे हाथ, राष्ट्रीय स्तर की तथाकथित वामपंथी ट्रेड यूनियनों की बात की जाये, तो उन्होंने भी इस बिल पर अपनी आपत्ति दर्ज करने के साथ 'राष्ट्रव्यापी' प्रदर्शन की रस्म भी पूरी कर ली है। इन 'वाम'-यूनियनों से पूछा जाना चाहिए कि आख़िर ये मज़दूरों को चवन्नी-दुवन्नी की लड़ाई में ही क्यों उलझाये रखती हैं, उन्हें राजनीतिक रूप से शिक्षित क्यों नहीं करतीं? उन्हें इन दिनों का मुक़ाबला करने के लिए पहले से क्यों नहीं तैयार किया? जवाब यह है कि ये यूनियनें और इनके साथ जुड़ी पार्टियाँ संशोधनवाद के नाले में इस क़दर डूबी हुई हैं कि सत्ता में होने पर ये लोग ख़ुद मज़दूर-विरोधी नव-उदारवादी नीतियों को लागू करते हैं। इस समय केरल की माकपा-नीत सरकार के आर्थिक 'सुधारों' से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

सामाजिक सुरक्षा संहिता विधेयक – सारी सुरक्षा मालिकों को, सारी असुरक्षाएँ मज़दूरों के नाम

बाक़ी दो बिल अभी तक पेश नहीं किये गये हैं, लेकिन पिछली लोकसभा के दौरान भी पेश किये गये इन विधेयकों पर निगाह डालने से तस्वीर साफ़ हो जाती है। 2017 में पेश किये गये सामाजिक सुरक्षा संहिता विधेयक के हिसाब से यह बेशर्म सरकार लोगों के ईपीएफ़ और ईएसआई वाले फ़ण्ड को एक ही फ़ण्ड के अन्तर्गत करना चाहती है जिसका मक़सद स्पष्ट रूप से आम जनता की गाढ़ी कमाई को शेयर बाज़ार की सट्टेबाज़ी में झोंकना है। कहने के लिए तो इस नये बिल में असंगठित क्षेत्र के मज़दूर भी आयेंगे, सन्तोष गंगवार ने 3000 रुपये की पेंशन की घोषणा भी की है। पर सवाल उठता है कि असंगठित क्षेत्र में बेहद विषम परिस्थितियों में हाड़तोड़ मेहनत करने वाले ऐसे कितने कामगार हैं जो 60 साल से ज़्यादा जी पाते हैं? दूसरे, इसमें मज़दूरों से हर महीने पैसा माँगा जा रहा है, न कि उनके मालिकों से। यानी 30 साल की उम्र में रजिस्टर करने वाला मज़दूर अगले तीस सालों तक हर महीने पैसे जमा करता रहे। यह बेवजह नहीं है कि इस सरकार के द्वारा लागू की गयी ऐसी ही दो योजनाओं – 'श्रमेव जयते योजना' और 'अटल पेंशन योजना' को मज़दूर वर्ग ने कोई तवज्जो नहीं दी और बेहद कम ही मज़दूर इन योजनाओं से जुड़े।

ऐसा नहीं है कि सरकार इन तथ्यों से वाक़िफ़ नहीं है। पर, सरकार की मंशा है आम जनता की जेब से ज़्यादा से ज़्यादा पैसा निकालकर उसे पूँजीपतियों की जेब में डालना। तमाम सरकारी बैंकों में लाखों करोड़ के एनपीए इस बात की बानगी करते हैं। दूसरी एक व्यवस्थाजन्य वजह है धीरे-धीरे सरकार के द्वारा हर तरह की सामाजिक सुरक्षा में कटौती की ओर बढ़ना। पूँजीपतियों की मुनाफ़े की हवस शान्त करने के लिए राज्यों के द्वारा कल्याणकारी कार्यों के ख़र्च में लगातार कटौती की जा रही है। इसके चलते पनपने वाले असन्तोष को रोकने के लिए बुर्जुआ थिंक-टैंक सार्विक आय या पेंशन जैसी योजनाओं का सुझाव दे रहे हैं। पूँजीपतियों की ही एक और पार्टी कांग्रेस के द्वारा चुनावी घोषणापत्र में की गयी सार्विक मूल आय की घोषणा भी यही नव-उदारवादी प्रोज़ेक्ट है, जिसके तहत सरकार कुछ चन्द रुपये आमदनी या पेंशन के रूप में थमाकर बाक़ी सारी सुविधाओं से पैर पीछे खींच लेती है और अन्ततः बाज़ार में ख़रीदारी बढ़ते ही महँगाई आसमान छूने लगती है और उस तथाकथित आमदनी या पेंशन का कोई मोल नहीं रह जाता।

औद्योगिक सम्बन्ध संहिता विधेयक – मज़दूरों के ट्रेड यूनियन अधिकारों का हनन

औद्योगिक सम्बन्धों के ड्राफ़्ट बिल में जहाँ हड़ताल करना बेहद मुश्किल बना दिया गया है, वहीं सरकार 300 कर्मचारियों तक की संख्या वाली फ़ैक्ट्रियों को मनमाने तरीक़े से छँटनी करने की छूट भी देना चाहती है। इसके अलावा, ट्रेड यूनियन बनाने की प्रक्रिया को बेहद मुश्किल बनाकर मज़दूरों के ट्रेड यूनियन बनाने के अधिकारों पर भी हमला किया गया है।

पूरे विश्व में हो रहे मज़दूर अधिकारों पर हमले

भारत के पूँजीपति वर्ग ने मोदी और योगी जैसे फ़ासिस्टों को कुर्सी पर इसीलिए बैठाया है, ताकि एक तरफ़ ये आम लोगों को धर्म और अति-राष्ट्रवाद की अफ़ीम खिलाकर बुनियादी मुद्दों से उनका ध्यान भटकाये रखें, और दूसरी तरफ़ ज़रूरत पड़ने पर ज़बरदस्त दमन करने से भी बाज़ न आयें। असल में, विश्व अर्थव्यवस्था की जिस मंज़िल में हम पहुँच चुके हैं, उसमें अब तमाम विकसित देशों में भी जम्हूरियत का नक़ाब उतरने लगा है, और अन्य देशों में हालात पहले से और ज़्यादा ख़राब हो रहे हैं। इण्टरनेशनल ट्रेड यूनियन कॉन्फ़ेडरेशन के एक अध्ययन के मुताबिक़, मज़दूरों को ट्रेड यूनियन में शामिल होने या ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार नहीं देने वाले देशों की संख्या 2018 में 92 से बढ़कर 2019 में 107 हो गयी है। पूरे यूरोप में बड़े पैमाने पर मितव्ययिता के उपाय लागू किये गये हैं और काम करने वाली आबादी को मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा में भारी कटौती की गयी है। ऊबर और अमेज़न जैसी कम्पनियों में दुनिया-भर में शारीरिक श्रम करने वाले लोगों में जगह-जगह रोष देखा जा रहा है, बल्कि कई कम्पनियों में एक हद तक मानसिक श्रम करने वालों के बीच भी, घटते विशेषाधिकारों और नौकरियों को लेकर बढ़ती असुरक्षा की वजह से तेज़ी से रोष पनपा है। ऐसे में, पूरी दुनिया की आधी सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा जमाये हुए 1% लोग, अवाम के ग़ुस्से को दबाने के लिए जगह-जगह धुर-दक्षिणपंथी ताक़तों को तख़्तानशीं कर रहे हैं।

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन

आज ज़रूरत है कि मज़दूर वर्ग राज्यसत्ता हासिल करने की लम्बी लड़ाई के लिए कमर कस ले और तात्कालिक माँगों के तौर पर जुझारू मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन को आगे बढ़ाया जाये। आज मज़दूरों की असल माँगें हैं कि तत्काल एक राष्ट्रीय न्यूनतम मज़दूरी नीति बनायी जाये। राष्ट्रीय तल-स्तरीय मज़दूरी को मनमाने ढंग से नहीं बल्कि 15वें श्रम सम्मेलन और 1992 के उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले के आधार पर तय किया जाये और अनिवार्य किया जाये कि राज्यों द्वारा निर्धारित की जाने वाली न्यूनतम मज़दूरी, राष्ट्रीय तल-स्तरीय मज़दूरी से कम नहीं होनी चाहिए। न्यूनतम मज़दूरी को संविधान की नवीं अनुसूची के अन्तर्गत लाया जाये, ताकि इससे सम्बन्धित क़ानून पर अमल के मसले पर न्यायालयों से स्थगनादेश (स्टे) नहीं

(पेज 2 पर जारी)

रेलवे के निजीकरण के ख़िलाफ़ एकजुट संघर्ष के लिए रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा की ओर से व्यापक सम्पर्क अभियान जारी

रेलवे के निजीकरण के खिलाफ़ संगठित और जुझारू प्रतिरोध खड़ा करने के मक़सद से रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा की ओर से देश के विभिन्न हिस्सों में व्यापक सम्पर्क अभियान चलाया जा रहा है। इलाहाबाद, लखनऊ, गोरखपुर व पूर्वी उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों, दिल्ली, हरियाणा, पटना सहित अनेक शहरों में रेलवे के दफ़्तरों, वर्कशॉपों, रेलवे कालोनियों तथा लाइन पर काम कर रहे रेल कर्मियों के बीच मोर्चा के कार्यकर्ता लगातार पर्चा वितरण, छोटी-छोटी सभाएँ करके और घर-घर, डेस्क-डेस्क सघन सम्पर्क करके अपनी बात को ले जा रहे हैं।

मोर्चा की ओर से कहा जा रहा है कि टुकड़े-टुकड़े में रेलवे के निजीकरण की पिछले ढाई दशक से जारी प्रक्रिया को मोदी सरकार ने बहुत तेज़ कर दिया है और 100 दिन के ऐक्शन प्लान के तहत अन्धाधुन्ध रफ़्तार से निजीकरण की पटरी पर गाड़ी दौड़ा दी है। इसे रोकने के लिए सरकार पर धरना-प्रदर्शन, छोटी रैलियों आदि का बहुत फर्क नहीं पड़ने वाला। सरकार एक लम्बी तैयारी के बाद इन विभागों को निजी हाथों में बेच रही है और भाजपा निजीकरण के लिए हर हथकण्डा अपनाने को तैयार है – दमन करने से लेकर फूट डालने तक। इसी वजह से कर्मचारियों का विभिन्न यूनियनों में बँटे रहना सरकार के लिए फ़ायदे की चीज़ है। एक तो इससे कर्मचारियों की ताक़त कमज़ोर हो जाती है, दूसरे, सरकार के लिए दमन का डर पैदा करना आसान हो जाता है व ज़रूरत पड़ने पर धन्धेबाज़ यूनियन नेताओं के साथ समझौता कर कुछ आश्वासन देकर आन्दोलन को ख़त्म करने का मौक़ा भी मिल जाता है। तीसरे, रेल का 'चक्का जाम' जैसे नारे केवल कहने की बात बन जाते हैं जबकि रेल का 'चक्का जाम' जैसे आन्दोलन के जुझारू रूपों को अपनाये बग़ैर निजीकरण की नीतियों के ख़िलाफ़ कोई असरदार लड़ाई लड़ी ही नहीं जा सकती।

गोरखपुर में एकीकृत क्रू लॉबी, टीटीई ऑफ़िस, पार्सल, जीआरपी ऑफ़िस, यांत्रिक कारख़ाना, रेलवे वर्कशॉप आदि में तथा इलाहाबाद (एनसीआर) तथा प्रयाग (एनआर) में रेलवे के विभिन्न ऑफ़िसों और कालोनियों में तथा एनआर व एनसीआर जोन के अन्य रेलवे स्टेशनों पर पर्चा वितरित किया गया। निजीकरण के ख़िलाफ़ रेलवे में काम कर रही मान्यता प्राप्त और ग़ैर-मान्यता प्राप्त यूनियनों के ढुलमुल रवैये को लेकर कर्मचारियों के भीतर ज़बरदस्त ग़ुस्से का माहौल है। कर्मचारियों ने बताया कि मुद्दा चाहे पुरानी पेंशन बहाली का हो, '100 दिन एक्शन प्लान' का हो, हाई स्पीड ट्रेन में पार्सल विभाग की ज़िम्मेदारी को पूरी तरह अमेज़न के हाथों में सौंपने का हो या फिर 55 की उम्र में अनिवार्य सेवानिवृत्ति का, यूनियनें केवल गरमा-गरम भाषणों से आगे बढ़कर कर्मचारियों के जुझारू और उग्र प्रतिरोध का रास्ता नहीं अपना रही हैं। यही वजह है कि सरकार मनमानी करती जा रही है और आनेवाले दिनों में इसकी क़ीमत कर्मचारियों के साथ-साथ आम जनता को भी चुकानी पड़ेगी।

मोदी सरकार के 100 दिन के एक्शन प्लान से पहले ही टुकड़ों-टुकड़ों में रेलवे के निजीकरण की योजना पर अमल जारी था। आज हालत यह हो गयी है कि बहुत सी जगहों पर रेलवे के अनेक अतिमहत्वपूर्ण विभागों में कर्मचारियों की स्वीकृत संख्या में तीस से लेकर 50 प्रतिशत कर्मचारियों की कमी है। '100 दिन ऐक्शन प्लान' लागू होने के पहले से ही निजीकरण का भयंकर रूप रेलवे के तमाम विभागों में आउटसोर्सिंग आदि के रूप में देखने को मिल रहा है। रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा के इस अभियान को रेल कर्मचारियों का व्यापक समर्थन प्राप्त हो रहा है। रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा के कार्यकर्ताओं से अपने विभाग की बदहाल स्थिति से अवगत कराते हुए गोरखपुर पूर्व की क्रू लॉबी में लोको पायलटों ने बताया कि स्वीकृत 265 पदों में से 78 पद ख़ाली पड़े हैं। इसी तरह प्रयाग रेलवे स्टेशन पर स्वीकृत 116 पदों में से 35 पद ख़ाली हैं। फूलपुर जैसे छोटे स्टेशन भी कर्मचारियों की कमी से जूझ रहे हैं। रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा के कार्यकर्ताओं से बात करते समय लोको पायलटों ने बताया कि यहाँ पर छुट्टी किसी भी सूरत में स्वीकार नहीं होती, क्योंकि जहाँ ट्रेनों की संख्या बढ़ी हैं, वहीं लोको पायलटों की संख्या घट गयी है। गोरखपुर पूर्व की क्रू लॉबी में महिला लोको पायलटों के लिए अलग से बैठने, विश्राम करने तक की कोई व्यवस्था नहीं है। कर्मचारियों की कम संख्या की वजह से उचित कोआर्डिनेशन न हो पाने पर रेलवे के परिचालन में लगातार दिक़्क़तें आती हैं। ट्रेनों के लेट होने से लेकर ट्रेन दुर्घटनाओं के पीछे कर्मचारियों की कमी बहुत बड़ा कारण है, लेकिन आम जनता को इन बातों की कोई सुसंगत जानकारी नहीं है। कॉर्पोरेट मीडिया सरकार की चरण-वन्दना में लगा हुआ है और वह जानबूझकर इन तथ्यों पर पर्दा डाल देता है। रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा के कार्यकर्ताओं ने कर्मचारियों से कहा कि आज तमाम तरीक़े की छँटनी-तालाबन्दी के बाद भी रेलवे के कर्मचारियों की संख्या इतनी है कि अगर वे जुझारू प्रतिरोध का रास्ता अपनायें तो सरकार को झुका सकते हैं। लेकिन इसके लिए उन्हें यूनियन के नेताओं का मुँह जोहने की बजाय उन पर दबाव बनाने और सभी कर्मचारियों को मुद्दों के आधार पर एक साथ आना होगा।

दुर्घटनाओं या ट्रेनों की लेटलतीफ़ी जैसे मामलों में रेलवे की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ जनता रेल कर्मचारियों को ही दोषी मानते हुए कोसती रहती है। रेल कर्मचारी कामचोर हैं, केवल वेतन लेते हैं, काम नहीं करते – इस तरह की बातें लोगों से अक्सर सुनने को मिलती हैं। अब जबकि तमाम पब्लिक सेक्टर पूँजीपतियों के हाथों बेचने के लिए भाजपा सरकार आमादा है तो मीडिया सरकारी प्रचार तंत्र की भूमिका निभा रहा है। वह किसी भी समस्या के वास्तविक कारणों की पड़ताल किये बिना विभाग के सरकारी होने को ही दोषी ठहरा देता है ताकि निजीकरण के पक्ष में माहौल बनाया जाये। अनेक सरकारी विभागों के निजीकरण के बाद से जनता की समस्याएँ कम होने के बजाय बढ़ गयी हैं, और आगे और भी बढ़ेंगी। लेकिन जनता को सही तरीके से समझाने व संगठित करने के लिए सरकारी विभागों की यूनियनों द्वारा सचेत प्रचार पर जोर नहीं है। ज़्यादातर यूनियनों के नेतृत्व ने निजीकरण की प्रक्रिया का कभी जुझारू प्रतिरोध किया ही नहीं। सरकार इस स्थिति का लाभ उठाकर लोगों के बीच में इन बातों को और गहराई से पैठाने का काम करती है। सरकार यही प्रचारित करती है कि निजीकरण से ये सारी समस्याएँ हल हो जायेंगी।

रेल मज़दूर अधिकार मोर्चा के कार्यकर्ता रेल कर्मियों के बीच अपने प्रचार में इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि उन्हें ख़ुद संगठित रूप में आगे आने के साथ ही व्यापक आबादी को भी अपने साथ लेने पर जोर बढ़ाना पड़ेगा। इस सच्चाई को लोगों के बीच उजागर करके सरकार व कॉर्पोरेट मीडिया की साज़िश को बेनक़ाब करना होगा। साथ ही विभिन्न सरकारी विभागों और सार्वजनिक उपक्रमों के निजीकरण की मार झेल रहे मज़दूरों-कर्मचारियों के आन्दोलन के साथ ही एकजुटता क़ायम करनी होगी।

– बिगुल संवाददाता

आधुनिकीकृत मदरसा और शिक्षक बर्बादी और बदहाली के कगार पर

मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से शिक्षा तंत्र बुरी तरह से चौपट किया जा रहा है। इसका एक नमूना आधुनिकीकृत मदरसे भी हैं। ग़ौरतलब है कि 1992 में केन्द्र सरकार द्वारा मदरसों के आधुनिकीकरण हेतु उनमें हिन्दी, गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान आदि आधुनिक शिक्षा देने के लिए अल्पसंख्यक मंत्रालय द्वारा मानदेय पर शिक्षकों की व्यवस्था की गयी। इन आधुनिकीकृत मदरसों के शिक्षकों के मानदेय के लिए एक छोटा-सा अंश राज्य सरकार को और बाक़ी केन्द्र सरकार को देना था। राज्य सरकार द्वारा ग्रेजुएट शिक्षकों को 2000 रुपये एवं पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षकों को 3000 रुपये जैसी मामूली राशि मानदेय के रूप में वहीं केन्द्र सरकार द्वारा ग्रेजुएट शिक्षकों को 6000 एवं पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षकों को 12000 प्रतिमाह दी जाने की व्यवस्था की गयी थी।

उत्तर प्रदेश में कुल 19000 मदरसे संचालित हो रहे हैं। इन मदरसों में 25550 आधुनिक शिक्षक कार्यरत हैं। जिसमें 40% हिन्दू शिक्षक हैं। उत्तर प्रदेश के इन मदरसों में क़रीब 10 से 11 लाख ग़रीब बच्चे पढ़ते हैं। मोदी सरकार के आने के बाद से इन मदरसों की स्थिति ख़राब होती गयी। बीते चुनाव में जुमलेन्द्र बहादुर के शिष्य और अल्पसंख्यक कल्याण मंत्री मुख्तार अब्बास नकवी ने ट्रिपल टी (टीचर, टिफ़िन, टॉयलेट) का एक जुमला उछाला था। लेकिन इस जुमले के उलट मदरसा आधुनिकीकरण के बजट में भारी कटौती की गयी। वित्त वर्ष 2016\17 में जो बजट 370 करोड़ था, उसे बढ़ाने के बजाय 2017/18 में घटाकर 120 करोड़ कर दिया गया। मदरसों के आधुनिक शिक्षकों को तय मानदेय भी नहीं दिया जा रहा है। अनेक मदरसा शिक्षक भुगखमरी के कगार पर हैं। ज्ञात हो कि उन्हें मिलने वाला मानदेय पिछले 40 से 60 माह तक नहीं दिया गया है। कई लड़ाइयाँ लड़ने के बाद मुश्किल से उनको राज्य सरकार द्वारा मिलने वाला 2000 मानदेय तीन-चार महीने पर मिल पाता है। केन्द्र सरकार का अंशदान 40 से 60 महीने तक का बकाया है। टिफ़िन यानी मिड डे मील की कोई व्यवस्था नहीं है। टॉयलेट भी कहीं पर नहीं बनवाया गया है। बदहाली का आलम यहाँ तक है कि राज्य सरकार ने सरकारी किताबें पढ़ाए जाने का प्रावधान किया है। मगर इन विद्यालयों को कोई किताबें नहीं दी जातीं। किताबों की व्यवस्था आधुनिक मदरसों के शिक्षक व अभिभावक अपने स्तर पर करते हैं। क्योंकि सरकारी किताबें बाज़ार में बिक्री के लिए उपलब्ध नहीं होती हैं। अतः इधर-उधर से जुगाड़ करके पुस्तकों की व्यवस्था की जाती है। इन शिक्षकों ने ज़िला मुख्यालय से लेकर के राज्य मुख्यालय व केन्द्र मुख्यालय पर कई बार धरना-प्रदर्शन व आन्दोलन संगठित किया। लेकिन इसके बावजूद सरकार के कानों पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। उल्टा आन्दोलन करने वाले कर्मचारी नेताओं को फ़र्ज़ी मुक़दमे लगा करके जेल में डाल दिया गया था। आज भी उन पर मुक़दमे चल रहे हैं। कई जगह पर तो मजबूर होकर प्राइवेट स्कूलों की किताबें पढ़ाई जा रही हैं।

मदरसा शिक्षकों के बीच अमिता, मास, आई मास, नमास, समास, एमटीयू, ममास, जैसी 7 यूनियन सक्रिय हैं। मगर इन यूनियनों की आपसी खींचतान व ग़लत तरीक़े से आन्दोलन चलाने की वजह से भारी निराशा है। एकजुटता न होने के चलते और सरकार द्वारा तमाम आन्दोलनों के दमनात्मक रवैया के कारण डर का माहौल क़ायम है। हालाँकि कुछ शिक्षकों ने सारे तथाकथित यूनियनों के बन्धनों को तोड़ करके "आम मदरसा शिक्षक" नाम का एक मंच बनाया है जिसके बैनर तले वे अपनी लड़ाई को नये सिरे से शुरू करने की तैयारी कर रहे हैं। लेकिन बहुत सकारात्मक माहौल अभी भी नहीं बन पाया है।

'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ताओं द्वारा सम्पर्क में आने वाले यूनियन के नेताओं को सलाह दी गयी कि उन्हें सबसे पहले इस लड़ाई में गुटबाज़ी तोड़कर एक होना होगा। दूसरे उन्हें यह बात समझनी होगी कि वर्तमान पूँजीवादी संकट के दौर में भाजपा की फ़ासीवादी सरकार अन्धाधुँध निजीकरण पर आमादा है। इसके लिए वह डण्डे का ज़ोर लगाने के लिए पूरी तरह तैयार है। इसलिए बहुत योजनाबद्ध, व्यापक और जुझारू आन्दोलन के बिना कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। आज के अधिकांश आन्दोलन की तरह इस आन्दोलन में भी यही कमी है कि वे इसे व्यापक जनता का मुद्दा नहीं बना सके। अख़बारों, टीवी चैनलों के भरोसे बैठे रहने से कुछ नहीं होने वाला है क्योंकि मौजूदा दौर में वे भी कॉरपोरेट घरानों के क़ब्ज़े में हैं। मदरसा आधुनिक शिक्षकों की यूनियनों को न केवल एक होना होगा बल्कि व्यापक जनता में इस मुद्दे को पर्चे, पैम्फ़लेट, बुलेटिन, सभाओं-नुक्कड़ सभाओं आदि के ज़रिये जाना होगा। इस तरह के अन्य आन्दोलनों से अपनी एकता क़ायम करनी होगी। माँगों में भी मुख्य रूप से मानदेय दिये जाने व परमानेण्ट किये जाने की माँग के साथ-साथ बच्चों के लिए पुस्तकें, ड्रेस व मिड डे मील की भी माँग को शामिल करना चाहिए। शिक्षकों को अपने परिवार के अलावा अभिभावकों को भी इस आन्दोलन का हिस्सा बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

– प्रमोद

ऑटोमोबाइल सेक्टर में भीषण मन्दी से लाखों लोगों का रोज़गार छिन सकता है

– अविनाश

पाँच ट्रिलियन अर्थव्यवस्था के कानफाड़ू शोर के बीच असली सच्चाई यह है कि देश की अर्थव्यवस्था मन्दी की गहरी खाई में गिरती जा रही है। पूँजीपतियों के मुनाफ़े की गिरती दर को बनाये रखने के लिए जनता को तबाही-बर्बादी के नरककुण्ड में धकेलकर उसके ख़ून-पसीने की कमाई से अरबों रुपये के 'बेल-आउट पैकेज' पहले ही पूँजीपतियों को दिये जा चुके हैं, लेकिन फिर भी अर्थव्यवस्था को दिवालिया होने से बचाने के सारे नुस्खे नीमहकीमी साबित हो रहे हैं। मन्दी की सबसे बुरी मार ग़रीब मेहनतकश आबादी पर पड़ रही है। महँगाई, बेरोज़गारी, छँटनी, तालाबन्दी सुरसा की तरह मुँह खोले आम आबादी को निगलने पर अमादा है।

ग़ैर-वित्तीय बैंकिंग संस्थाओं के बर्बाद होने के साथ शुरू हुआ संकट रियल एस्टेट सेक्टर, ऑटोमोबाइल सेक्टर, लघु और मध्यम उद्योगों, आईटी सेक्टर से होते हुए कंज़्यूमर इलेक्ट्रॉनिक, कंज़्यूमर गुड्स कम्पनियों तक को अपनी ज़द में ले चुका है।

मन्दी की सबसे भयंकर मार ऑटोमोबाइल सेक्टर पर पड़ी है जो भारत में कुल मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर के लगभग आधे के बराबर है। भारत का ऑटोमोबाइल उद्योग विश्व का सातवाँ सबसे बड़ा ऑटोमोबाइल उद्योग है। भारत एशिया का चौथा सबसे बड़ा निर्यातक देश भी है। लेकिन मौजूदा स्थिति यह है कि 2019 की पहली तिमाही में कार बिक्री में 18.4 फ़ीसदी की कमी दर्ज की गयी है। वहीं चालू वित्त वर्ष की दूसरी तिमाही में सभी श्रेणियों में वाहनों की बिक्री 12.35 प्रतिशत और घटकर 60,85,406 इकाई रह गयी। भारत की सबसे बड़ी पैसेंजर कार निर्माता कम्पनी मारुति सुज़ुकी इण्डिया की बिक्री जून के महीने में 17 फ़ीसदी गिरकर पिछले साल की तुलना में 1,34,036 यूनिट से घटकर 1,11,014 इकाई पर आ गयी। टाटा की सबसे छोटी और सस्ती कार नैनो के लिए अब तक साल 2019 श्राप साबित हुआ है, क्योंकि अब तक कम्पनी सिर्फ़ एक कार बेच पाने में सफल हो पायी है। वहीं दूसरी तरफ़ अगर मिनी सेगमेण्ट में आने वाली कारों जैसे आल्टो, वैगन आर आदि की बात करें तो पिछले साल के मुक़ाबले इस साल बिक्री में 36 फ़ीसदी की गिरावट आयी है। ऐसे ही कॉम्पैक्ट सेडान सेगमेण्ट की कार स्विफ़्ट, बलेनो, डिज़ायर आदि की बिक्री में पिछले साल की तुलना में इस साल 12 प्रतिशत की कमी आयी है। स्कूटरों की बिक्री में 26 फ़ीसदी की तो मोटरसाइकिल की बिक्री में 12 फ़ीसदी की कमी आयी है। इसके परिणामस्वरूप गाड़ियों की बिक्री पिछले 18 साल में सबसे निचले स्तर पर पहुँच गयी है। अगस्त के पहले पखवारे तक गिरावट की यह प्रवृत्ति और भी गम्भीर रूप में दिखायी दे रही है।

एक तरफ़ जहाँ हज़ारों करोड़ की लागत की लाखों गाड़ियाँ गोदामों और कारख़ानों में सड़ रही हैं, वहीं क़रीब 52 हज़ार करोड़ की 35 लाख गाड़ियाँ देश-भर के शोरूम में पड़े-पड़े सड़ रही हैं। औसतन दो शोरूम हर हफ़्ते बन्द हो रहे हैं।

पहले से ही सुस्त अर्थव्यवस्था के कारण भारत में कम्पनियाँ अपनी क्षमता के 70-80 प्रतिशत पर उत्पादन कर रही थीं, ऊपर से घरेलू बाज़ार में आयी माँग में कमी ने आग में घी डालने का काम किया है। ज़्यादातर ऑटोमोबाइल कम्पनियाँ अपने उत्पादन को कम कर रही हैं। मारुति सुज़ुकी ने फ़रवरी में ही उत्पादन में 8.3 फ़ीसदी की कटौती की थी। इसी तर्ज़ पर आल्टो, ब्रेज़ा, स्विफ़्ट डिजायर के उत्पादन में अब तक इस साल 8.4 फ़ीसदी की कटौती हो चुकी है। जिसकी वजह से उत्पादन औसतन क्षमता के 50 प्रतिशत पर आ गया है। मौजूदा हालात यह है कि माँग न होने की वजह से कई कम्पनियों ने अपनी फ़ैक्टरियों में उत्पादन बिल्कुल बन्द कर दिया है और अधिकतर कम्पनियाँ ब्लॉक क्लोज़र, पार्शियल क्लोज़र से लेकर क्लोज़र तक पहुँचने की स्थिति में पहुँच चुकी है।

लम्बे समय से छाये ऑटो सेक्टर की मन्दी की वजह से ऑटो पार्ट्स उद्योग के 50 लाख श्रमिको में से लगभग 10 लाख मज़दूरों पर छँटनी की तलवार लटक रही है। छँटनी की गाज़ सबसे ज़्यादा अस्थायी मज़दूरों पर पड़ रही है, लेकिन स्थायी मज़दूरों को भी तरह-तरह से प्रताड़ित करके, ऊल-जलूल मुद्दों का हवाला देकर बाहर का रास्ता दिखाया जा रहा है। कैजुअल मज़दूरों का क्लीयरेंस समय से 2-3 महीने पहले ही कराया जा रहा है। और 'रीज्वाइनिंग' की प्रक्रिया के दौरान अधिकांश मज़दूरों को काम से बेदख़ल होना पड़ रहा है। कोई संगठित प्रतिरोध न खड़ा हो, इसलिए छँटनी किश्तों में की जा रही है और मज़दूरों के एक हिस्से को दूसरे हिस्से के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जा रहा है। देश-भर में 15 हज़ार डीलरों द्वारा चलाये जा रहे 26 हज़ार शोरूमों में क़रीब 25 लाख लोगों को प्रत्यक्ष और लभग इतने ही लोगों को अप्रत्यक्ष रूप से रोज़गार मिला है। लेकिन पिछले 18 महीनों में 271 शहरों से 286 शोरूम बिक्री न होने की वजह से बन्द हो गये हैं। लगातार बन्द हो रहे शोरूमों की वजह से पिछले तीन महीनों में खुदरा मार्किट में काम कर रहे लगभग 2 लाख लोगों की छँटनी हो चुकी है और फ़ेडरेशन ऑफ़ ऑटोमोबाइल डीलर्स एसोसिएशन (फ़ाडा) के मुताबिक़ निकट भविष्य में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। मतलब साफ़ है कि शोरूमों पर ताला लगने का सिलसिला बदस्तूर जारी रहेगा और मज़दूरों और उनके परिवारों को उनके भाग्य-भरोसे सड़कों पर धकेलने का सिलसिला भी आनेवाले दिनों में और बढ़ेगा। मोदी सरकार के कार्यकाल में तक़रीबन हर सेक्टर मन्दी के दौर से गुज़र रहा है। देश में मोबाइल हैण्डसेट सेक्टर की हालत ख़राब होती जा रही है। पिछले दो सालों में इस सेक्टर में काम करने वाले ढाई लाख से ज़्यादा लोगों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा है। लूट पर टिकी इस व्यवस्था में बड़ी पूँजी लगातार छोटी पूँजी को निगलती जाती है। यही कारण है कि अमेज़न और फ्लिपकार्ट जैसी बड़ी कम्पनियों के रिटेल मार्किट में आने की वजह से इनशॉप मार्किट लगभग तबाही के कगार पर पहुँच चुकी है।

तमाम झाड़-फूँक के बावजूद साल की तीसरी तिमाही की शुरुआत में यह स्पष्ट हो गया कि संकट कम होने की जगह बढ़ने वाला है। क्योंकि जुलाई में निसान, बजाज, मारुती, हुण्डई, महिन्द्रा, टोयोटा, होण्डा, हीरो मोटोकोर्प, रॉयल एनफ़ील्ड सरीखी कम्पनियों की बिक्री में पिछले साल के मुक़ाबले 30-40 फ़ीसदी की कमी आयी है जो अब ख़तरे के निशान से ऊपर जा रही है। अगर यही स्थिति आगे भी जारी रही तो आने वाले दिनों में शटडाउन तक की नौबत भी आ सकती है। दरअसल कलपुर्जा उद्योग भी पूरी तरह वाहनों के उत्पादन पर निर्भर होता है, इसलिए जिस अति-उत्पादन के संकट से आज ऑटोमोबाइल सेक्टर गुज़र रहा है उसका सीधा असर कलपुर्जा उद्योगों में देखने को मिल रहा है। जीएसटी और नोटबन्दी की मार से यह सेक्टर अभी पूरी तरह से उभरा भी नहीं था कि मन्दी की दोहरी मार ने कलपुर्जा उद्योग की कमर तोड़कर रख दी है। अभी की स्थिति यह है कि यह उद्योग ज़्यादा दिनों तक मन्दी की मार भी नहीं झेल सकता है। छँटनी, तालाबन्दी तो पहले से चली आ रही थी, अगर स्थिति यही रही तो आने वाले दिनों में कारख़ानों पर ताला लटकने की भी शुरुआत हो सकती है। लगभग सभी ऑटोमोबाइल कम्पनियाँ पिछले कुछ महीनों में 3 दिन से लेकर 15 दिन तक उत्पादन बन्द कर चुकी हैं।

वैश्विक स्तर पर भी ऑटोमोबाइल सेक्टर औंधे मुँह गिरा है, पूरे विश्व में सबसे ज़्यादा उत्पादन और खपत करने वाले देश चीन में पिछले 12 महीनों से लगातार बिक्री में कमी होने की वजह से उत्पादन में कटौती की स्थिति बनी हुई है। चाइना एसोसिएशन ऑफ़ ऑटोमोबाइल मैन्युफ़ैक्चरर्स के आँकड़ों के मुताबिक़ अप्रैल में बिक्री में जहाँ 16.4 फ़ीसदी की कमी आयी थी, वही जून में 14.6 फ़ीसदी की गिरावट दर्ज हुई। चीनी बाज़ार में आयी माँग की कमी की वजह से पिछले 1 साल में 2 लाख 20 हज़ार लोग नौकरी से हाथ धो बैठे हैं, जो पूरे चीनी ऑटोमोबाइल सेक्टर में काम करने वाले मज़दूरों का पाँच फ़ीसदी है। पिछले छः महीनों से फ़ोर्ड कम्पनी अपनी क्षमता के दसवें हिस्से का ही उत्पादन कर रही है जिससे आने वाले दिनों में और तेज़ी से छँटनी की प्रक्रिया चलेगी। ऐसे में किसी भी सम्भावित प्रतिरोध को दबाने के लिए मज़दूर विरोधी क़ानूनों को और भी कड़ा कर चुकी है।

उत्तरी अमेरिकी देशों में ऑटोमोबाइल की बिक्री में 2022 तक 30 प्रतिशत की कमी होने की सम्भावना है। संयुक्त राज्य अमेरिका और मेक्सिको में, जहाँ एक तरफ़ साल की शुरुआत में ही निसान ने क़रीब 2,420 लोगों को बाहर का रास्ता दिखा दिया, वहीं दूसरी तरफ़ अमेरिका और कनाडा में, फ़ोर्ड कम्पनी पहले ही होने वाली सम्भावित छँटनी का फ़रमान समय-समय पर मज़दूरों दे रही है। इसी प्रकार विश्व के अन्य हिस्सों में भी ऑटोमोबाइल सेक्टर के मन्दी की मार पड़ रही है। छँटनी-तालाबन्दी की वजह से हर रोज़ दुनिया-भर से हज़ारों मज़दूर बेघर-बेरोज़गार होकर ग़रीबी, भुखमरी में ज़िन्दगी बिताने को मजबूर हो रहे है।

पूँजीवाद में बाज़ार पर अपना वर्चस्व क़ायम करने और ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा में पूँजीपति वर्ग बाज़ार की आवश्यकताओं का कोई विस्तृत मूल्यांकन नहीं करता है। बीते वर्षों की माँग के आधार पर एक सतही मूल्यांकन से माँग तय कर लिया जाता है। लेकिन यह मूल्यांकन भी एक सेक्टर में उत्पादन करने वाले सभी पूँजीपति मिलकर नहीं करते हैं। नतीजतन अराजक उत्पादन अपनी स्वाभाविक गति से अति-उत्पादन का संकट पैदा करता रहता है। यह अति-उत्पादन निरपेक्ष रूप में अति-उत्पादन नहीं होता है, क्योंकि मन्दी के दौर में जब एक तरफ़ सामान से बाज़ार पटा रहता है, वहीं दूसरी तरफ़ भुखमरी, ग़रीबी, महँगाई, बेरोज़गारी सातवें आसमान पर होती है, ज़रूरतमन्द तो होते हैं लेकिन लोगों के पास क्रय-शक्ति नहीं होती है। अतः यह अति-उत्पादन क्रय-शक्ति के सापेक्ष होता है न कि ज़रूरतमन्दों के हिसाब से, और अराजक पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के विभिन्न सेक्टरों में मन्दी की स्थिति आती-जाती रहती है। बाज़ार में हर सेक्टर के आपस में गुत्थम-गुत्थी हो जाने की वजह से एक सेक्टर में हुआ अति-उत्पादन दूसरे सेक्टरों को भी अपनी जद में लेने लगता है और एक समय के बाद अति-उत्पादन एक आम संकट का रूप धारण कर लेता है, और पूरी की पूरी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मन्दी की चपेट में आ जाती है।

भारतीय ऑटोमोबाइल सेक्टर में छँटनी का सिलसिला शुरू हो चुका है। भारत में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लगभग साढ़े तीन करोड़ लोग ऑटोमोबाइल सेक्टर से जुड़े हैं, जिनमें से लगभग 80-85 फ़ीसदी श्रमिक ठेका मज़दूर के तौर पर काम करते हैं। मारुति सुज़ुकी महीने की शुरुआत में 6 फ़ीसदी मज़दूरों की छँटनी कर चुकी है और माँग न बढ़ने की दशा में आने वाले दिनों में उत्पादन में कटौती के साथ ही नौकरियों में भी कटौती होगी।

ग़ैर-बैंकिंग वितीय संस्थाओं के दिवालिया होते जाने से आयी आर्थिक मन्दी ऑटोमोबाइल से होते हुए सभी औद्योगिक क्षेत्रों में फैल चुकी है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र की अधिकांश कम्पनियाँ ऑटोमोबाइल सेक्टर पर निर्भर हैं और ऑटोमोबाइल सेक्टर में आयी मन्दी ने अकेले आदित्यपुर औद्योगिक क्षेत्र जमशेदपुर के सूक्ष्म, लघु व मध्यम उद्योगों की कमर तोड़ दी है। वर्तमान में क़रीब 700 छोटे व मँझोले उद्योगों में काम बन्द हो गये हैं या फिर बन्द होने की स्थिति में हैं। इससे 30,000 से अधिक कामगारों को तत्काल काम से बैठा दिया गया है। टिमकेन जैसी कम्पनियाँ भी साल में दो बार ब्लॉक क्लोज़र कर रही है, जबकि उसके उत्पाद रेलवे व अन्य बड़ी कम्पनियों में जाते हैं। कोल्हापुर प्रबन्धन की 25 इण्डक्शन फ़र्नेस कम्पनियों ने हफ़्ते-भर पहले सूचित कर चुकी हैं कि 1 अगस्त से काम-काज ठप्प रहेगा, जिससे सीधे तौर पर 30,000 कर्मचारी और उनके परिवार वालों के लिए मुश्किल पैदा होने वाली है। इसी तर्ज़ पर दर्जनों स्टील फ़ैक्टरियाँ एक अगस्त से अपना कामकाज रोक देंगी जिसकी वजह से 5 हज़ार लोग सीधे बेरोज़गारी की मार झेलने के लिए अभिशप्त होंगे। दशकों से काम कर रहे मज़दूरों के सामने व्यवस्था अपनी स्वाभाविक गति से रोटी-कपड़ा-छत का संकट पैदा कर रही है, परिणामस्वरूप मज़दूरों में आत्महत्या करने की प्रवृति में भयंकर तेज़ी देखने को मिली है।

चूँकि पूँजीवादी संकट सबसे पहले वित्तीय संस्थाओं की बर्बादी के रूप में सामने आता है और उसके बाद ही उद्योगों में अभिव्यक्त होता है, इससे यह धारणा बनती है कि परिचालन को ठीक कर लेने-भर से मन्दी के संकट से निजात पायी जा सकती है और यही वजह है कि पूँजीवाद के रक्षक मन्दी का इलाज बेलआउट पैकेज, परिचालन बढ़ाने, टैक्स दर को कम करने, बैंकों को लोन देने की क्षमता से लैस करके बाज़ार में माँग बढ़ाने जैसे तमाम टोना-टोटका से करते हुए मन्दी के कारण को बाज़ार में ढूँढ़ते हैं और हर बार मुँह-भर माटी ले लेते हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि पूँजीवाद का ढाँचागत संकट बन चुकी मन्दी का असली कारण पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर मुट्ठी-भर लुटेरों का क़ब्ज़ा होता है और उत्पादन मनुष्य के लिए नहीं मुनाफ़े के लिए होता है। इस तरह उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली समाज की तबाही-बर्बादी का कारण बन रही है। ऐसे में मन्दी से छुटकारा पाने का एकमात्र तरीक़ा यही है कि मज़दूर क्रान्ति के ज़रिये इस मानवद्रोही समाज व्यवस्था को प्रशान्त महासागर की तलहटी में डुबोकर मानव केन्द्रित समाजवादी व्यवस्था को स्थापित किया जाये। निश्चित ही यह एक लम्बा काम है, लेकिन मानवता को बचाने का और कोई रास्ता भी नहीं बचा है।

कश्मीर के मुद्दे पर सोचने के लिए कुछ बेहद ज़रूरी सवाल

(पेज 1 से आगे)

इसलिए हम सीधे इस प्रश्न पर आते हैं कि **इस फ़ैसले को लागू करने के पीछे मोदी सरकार की मंशा क्या है और इस पर हम मज़दूरों-मेहनतकशों का क्या नज़रिया होना चाहिए।** लेकिन इसके लिए सबसे पहले जम्मू-कश्मीर के बारे में कुछ बुनियादी बातें हमें पता होनी चाहिए।

जम्मू-कश्मीर की समस्या का संक्षिप्त इतिहास

सबसे पहले तो हम मज़दूरों को यह पता होना चाहिए कि 15 अगस्त 1947 को जब भारत आज़ाद हुआ तो जम्मू-कश्मीर उसका हिस्सा नहीं था। वहाँ राजा हरि सिंह की रियासत चलती थी। कश्मीर की रियासत में बहुसंख्यक आबादी मुसलमान थी, जबकि उसका राजा यानी कि हरि सिंह हिन्दू था। कश्मीर के ग़रीब किसान (जिसमें अधिकांश मुसलमान थे, लेकिन हिन्दू भी थे) जम्मू-कश्मीर की सबसे बड़ी और लोकप्रिय पार्टी **नेशनल कान्फ्रेंस** के नेतृत्व में हरि सिंह के राज में जारी सामन्ती उत्पीड़न और ज़मींदारी के खिलाफ़ संघर्ष कर रहे थे। इस पार्टी के नेता थे **शेख़ अब्दुल्ला**। उनके नेतृत्व में जम्मू-कश्मीर के किसान ज़मींदारी और ग़ुलामी के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। आज़ादी के समय राजा हरि सिंह भारत में विलय को लेकर आनाकानी कर रहे थे। जबकि शेख अब्दुल्ला की अगुवाई में नेशनल कान्फ्रेंस का झुकाव कुछ शर्तों के साथ भारत में विलय की ओर था।

हरि सिंह के तुरन्त तैयार न होने के कारण आज़ादी के ठीक बाद कश्मीर का भारत में विलय नहीं हो सका था। इसी बीच पाकिस्तान ने धार्मिक आधार पर कश्मीर को अपने में शामिल करने के मंसूबे से कश्मीर पर अपनी सेना के समर्थन से कबायलियों के ज़रिये हमला करवाया। इस हमले के ख़िलाफ़ कश्मीरी लोग बहादुरी से लड़े। इस हमले के बाद ही हरि सिंह ने भारत में सशर्त विलय को स्वीकार किया। भारतीय सेना जब 1948 में श्रीनगर पहुँची तो कश्मीरी जनता ने उसका तहेदिल से स्वागत किया, उस पर फूल बरसाये और उसके समर्थन में नारे लगाये। कश्मीर की आम जनता कभी भी पाकिस्तान के इस्लामी राज्य में शामिल नहीं होना चाहती थी क्योंकि ऐतिहासिक तौर पर कश्मीरी जनता कभी भी साम्प्रदायिक चरित्र की नहीं थी। भारत में विलय की सन्धि में यह शर्त शामिल थी कि कश्मीर को भारतीय संघ के भीतर स्वायत्तता का दर्जा मिलेगा। इस शर्त को शामिल करने का कारण यह था कि कश्मीरी जनता, जिसमें कि कश्मीरी मुसलमान और कश्मीरी हिन्दू पण्डित दोनों ही शामिल थे, अपनी राष्ट्रीय पहचान को क़ायम रखते हुए भारत में शामिल होना चाहती थी और इसीलिए वह विदेशी मसलों व कुछ अन्य मसलों के अतिरिक्त अन्य मसलों में अपनी स्वायत्तता रखना चाहती थी, और यह उसका वाजिब हक़ था। **तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू व गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल इस पर सहमत थे। संघ परिवार और मोदी सरकार सरासर झूठ बोल रही है कि अनुच्छेद 370 ख़त्म करके उसने सरदार पटेल का सपना पूरा किया है।** जम्मू-कश्मीर की इस स्वायत्तता के दर्जे को ही कानूनी रूप देते हुए अनुच्छेद 370 बनाया गया था। दूसरे शब्दों में, कश्मीर इसी शर्त के साथ भारत में अपनी इच्छा से शामिल हुआ था कि उसे भारतीय संघ के भीतर स्वायत्तता प्राप्त होगी। यह भारत में विलय की कानूनी सन्धि का अंग था। इस धारा में कोई भी बदलाव तभी किया जा सकता था जबकि कश्मीर की संविधान सभा और बाद में उसकी विधानसभा इसके लिए सहमति देती।

कश्मीर की जनता का बहुसंख्यक मुसलमान आबादी है। इसके बावजूद उसने धार्मिक आधार पर पाकिस्तान के इस्लामिक राज्य में शामिल होने इंकार किया और भारत के औपचारिक तौर पर धर्मनिरपेक्ष राज्य में शामिल होना स्वीकार किया। कश्मीरी राष्ट्रीयता का यह फ़ैसला अपने आप में बताता है कि कश्मीर में इस्लामी कट्टरपंथ का ऐतिहासिक तौर पर कोई गहरा आधार नहीं था। **तो फिर कश्मीरी जनता का भारत से अलगाव किस प्रकार शुरू हुआ?**

इसकी शुरुआत नेहरू सरकार ने की थी। नेहरू सरकार ने कश्मीर में रैडिकल भूमि सुधार लागू कर ज़मींदारी की जड़ों पर चोट करने वाली और कई जनवादी नागरिक अधिकारों को बहाल करने वाली शेख़ अब्दुल्ला सरकार को असंवैधानिक तरीके से 1953 में बर्खास्त कर दिया और फिर शेख़ अब्दुल्ला को जेल में डाल दिया जहाँ वह 11 साल तक क़ैद रहे। इसका कारण यह था कि भारत के पूँजीवादी जनवाद के नेहरू के मॉडल में इस प्रकार के जनपक्षधर और प्रगतिशील क़दम शामिल नहीं थे और वह नेहरू के लिए पूरे देश में दिक़्क़त पैदा कर सकते थे। **यह कश्मीरी क़ौम के साथ भारत के शासक वर्ग की ग़द्दारी की शुरुआत थी जिसकी वजह से कश्मीरी जनता के भारत से अलगाव की भावना के बीज पड़े।** कश्मीर को अलग संविधान, अलग झण्डे और अपना वज़ीरे-आज़म रखने की संवैधानिक आज़ादी थी, पर उसे एक-एक करके छीना जाने लगा। बाद में वज़ीरे-आज़म के पद को सामान्य मुख्यमंत्री के पद में तब्दील कर दिया गया। इसके बाद, वहाँ कांग्रेस ने फ़र्ज़ी चुनाव करवाये और ज़ोर-ज़बरदस्ती के साथ जनता के जनवादी अधिकारों को कुचल दिया। इन सारे कदमों के कारण कश्मीर को मिली स्वायत्तता नाम मात्र की रह गयीं। वास्तव में, स्वायत्तता को धीरे-धीरे करके छीना जाता रहा। इसके कारण कश्मीरी जनता जो कि इस स्वायत्तता की शर्त पर ही भारत में शामिल हुई थी, अपना भरोसा खोती गयी। उसके अन्दर भारत से अलगाव की भावना बढ़ती गयी। 1960 के दशक से ही कश्मीरी जनता के प्रतिरोध को भारत के शासक वर्ग ने फ़ौजी बन्दूकों और बूटों के दम पर कुचला। इसके ख़िलाफ़ जनता में भयंकर आक्रोश पनपा।

इसी आक्रोश का फायदा उठाया इस्लामी कट्टरपंथियों ने और पाकिस्तान ने। 1980 के दशक से पाकिस्तान की शह पर इस्लामी कट्टरपंथी कश्मीर में जड़ें जमाने लगे। वहाँ पर इस दौर में पैदा हुआ आतंकवाद इसी का नतीजा था। शेख़ अब्दुल्ला को नेहरू सरकार ने दो बार जेल में डाला था। दूसरी बार जेल यात्रा से वापस आने के बाद शेख अब्दुल्ला का स्वर नर्म पड़ चुका था। कश्मीरी राष्ट्रीयता की आवाज़ उठाने वाली सेक्युलर नेशनल कॉन्फ्रेंस समझौतापरस्त हो चुकी थी। ऐसे में कश्मीरी जनता के एक हिस्से ने इस्लामी कट्टरपंथी ताक़तों को समर्थन दिया क्योंकि केवल यही ताक़तें भारतीय राज्यसत्ता के दमन के विरुद्ध लड़ते हुए दिखलाई पड़ रही थीं।

जो भी एक बार भी कश्मीर गया है वह जानता है कि साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरपंथ कश्मीरी जनता के स्वभाव में नहीं है। यह भारतीय शासक वर्ग और उसकी राज्यसत्ता का विश्वासघात और दमन था जिसके कारण कश्मीर की जनता में अलगाव की भावना पैदा हुई, और उसी के बीच धार्मिक कट्टरपंथियों ने जड़ें जमायीं और वहाँ पर पाकिस्तान की शह पर आतंकवाद फैला। जो कश्मीरी क़ौम कभी भी इस्लामी कट्टरपंथियों के पक्ष में नहीं रही थी, उसके एक हिस्से के बीच इन कट्टरपंथियों ने जड़ें जमा लीं। **इसका ज़िम्मेदार कौन था? भारतीय पूँजीपति वर्ग, उसका विस्तारवाद और उसकी दमनकारी राज्यसत्ता। ज़रा सोचिये मज़दूर साथियो! क्या वजह है कि जिस कश्मीरी जनता ने 1948 में श्रीनगर के लाल चौक पर भारतीय सेना का फूल बरसाकर स्वागत किया था, आज वही भारतीय फ़ौज से नफ़रत करती है और उस पर पत्थर बरसाती है?**

1980 के उत्तरार्द्ध और 1990 के दशक में जम्मू-कश्मीर में इस्लामी कट्टरपंथी आतंकवाद पाकिस्तान की शह पर जमकर पनपा और भारतीय राज्यसत्ता ने उसका दमन शुरू किया। इस दमन का शिकार आतंकवादी कम हुए और कश्मीरी जनता ज़्यादा हुई। सामूहिक हत्याकाण्ड, बलात्कार, अपहरण, लोगों का ग़ायब होना कश्मीरी जनता के लिए रोज़मर्रा की बात हो गयी। भारतीय फ़ौज द्वारा अंजाम दी जाने वाली ये वारदातें इतनी बढ़ गयीं कि अब भारत सरकार भी ऐसे तमाम हत्याकाण्डों और बलात्कारों से इंकार नहीं कर पाती है। कुनान पशपोरा से लेकर माछिल एनकाउण्टर तक तमाम ऐसी वारदातें कश्मीरी क़ौम के ज़ेहन में ज़ख़्म के समान हैं। यही कारण है कि इस सरकारी आतंकवाद के ख़िलाफ़ वहाँ के अनेक नौजवान आतंकवाद के रास्ते पर गये और अब अनुच्छेद 370 हटाकर भाजपा ने एक बार फिर से ऐसी त्रासदी का रास्ता खोल दिया है। 1990 के दशक के दौरान भारतीय शासक वर्ग ने सैन्य शक्ति के बूते आतंकवाद को तो कुचल दिया, लेकिन कश्मीरी जनता के प्रतिरोध को नहीं। 2009 में माछिल एनकाउण्टर के बाद जो आन्दोलन शुरू हुआ उसके हाथ में न तो बन्दूकें थीं, न रॉकेट लांचर। लेकिन हज़ारों लोग सड़कों पर थे। इस प्रतिरोध का कोई ठोस आकार नहीं था और न ही कोई चेहरा था। आम जनता भारत सरकार के दमन के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतर आयी थी, बिना किसी आतंकवादी या कट्टरपंथी नेतृत्व या ताक़त के। इस प्रकार फ़ौजी दमन और जकड़बन्दी के ख़िलाफ़ कश्मीरी जनता का प्रतिरोध जारी रहा।

फासीवादी मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 को हटाया जाना इस प्रतिरोध को क्रमिक प्रक्रिया में अधिक विस्फोटक रूप देगा। 1950 व 1960 के दशक में नेहरू सरकार द्वारा शुरू किये गये धोखे और दमन के फलस्वरूप कश्मीर में 1980 के दशक में आतंकवाद और इस्लामी कट्टरपंथ पनपा। 2019 में मोदी सरकार द्वारा अपने तात्कालिक हितों के लिए खेले गये इस ख़तरनाक जुए के फलस्वरूप आने वाले समय में इस्लामी कट्टरपंथ और आतंकवाद के दानव के फिर से उठ खड़ा होने में वक़्त लगेगा, लेकिन इसे रोकना मुश्किल होगा। फ़ौजी बन्दूकों और बूटों के दम पर कोई सरकार डेढ़ करोड़ लोगों को जान से मार नहीं सकती है। न ही उन्हें साल-दर-साल संगीनों में साये में रखा जा सकता है। बड़ी से बड़ी और उन्नत से उन्नत हथियारों से लैस सेनाएँ थक जाया करती हैं। इज़रायल अकल्पनीय दमन और बर्बरता के बावजूद अगर 72 वर्ष में फ़िलिस्तीनी जनता के प्रतिरोध को कुचल नहीं सका, तो यह बात समझी जा सकती है कि कोई भी दमित राष्ट्रीयता लड़ती रहती है; अगर वह जीतती नहीं तो वह हारती भी नहीं है। **जहाँ न्याय न हो, वहाँ शान्ति नहीं हो सकती है।**

राष्ट्रीयता क्या होती है?

यह भी समझना ज़रूरी है कि कश्मीरी राष्ट्रीयता का आधार इस्लाम धर्म नहीं बल्कि कश्मीरी जनता की साझी संस्कृति, भाषा, खान-पान, पहनावा, इतिहास और अर्थव्यवस्था है। किसी भी राष्ट्रीयता का आधार धर्म नहीं होता, बल्कि एक साझा आर्थिक तंत्र, साझी भाषा व संस्कृति और साझा इतिहास होता है। इस सवाल पर कई अहम लोग भी ग़लत सोच रखते थे, जैसे कि डा. भीमराव अम्बेडकर। उन्होंने भी कश्मीर के विभाजन और कश्मीर घाटी को मुसलमान बहुसंख्या के कारण पाकिस्तान को सौंपने या विभाजन कराकर जनमत संग्रह कराने का समर्थन किया था। धर्म को आधार बनाकर भारत का बँटवारा भी ग़लत था और इस आधार पर कश्मीर घाटी को पाकिस्तान को सौंप देने की वकालत करना भी ग़लत था, ख़ास तौर पर तब, जबकि स्वयं कश्मीर घाटी की आम जनता पाकिस्तान के इस्लामी राज्य में शामिल नहीं होना चाहती थी। कश्मीर की राष्ट्रीयता का आधार कोई धर्म नहीं बल्कि साझी अर्थव्यवस्था, इतिहास, भाषा और संस्कृति तथा क्षेत्र है। इस कश्मीरी राष्ट्रीयता में कश्मीरी मुसलमान और कश्मीरी पण्डित हिन्दू, दोनों ही शामिल हैं। **यह सच है कि धार्मिक कट्टरपंथी अलगाववाद और आतंकवाद के दौर में कश्मीरी पण्डितों के साथ ऐतिहासिक अन्याय हुआ और जेकेएलएफ़ (जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट) व अन्य अलगाववादी इस्लामी कट्टरपंथी संगठनों के नेतृत्व में उन्हें वहाँ से भगाया गया, उनकी हत्याएँ हुईं, उनके घर और सम्पत्तियों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। कश्मीरी पण्डितों के साथ यह बर्ताव वास्तव में कश्मीरी राष्ट्रीयता के पूरे संघर्ष के लिए आत्मघाती सिद्ध हुआ। इसने भारतीय राज्यसत्ता को यह मौका दिया कि राष्ट्रीयता के मसले को धर्म और सम्प्रदाय का मसला बना दिया जाये।** शायद यह बात बाद में कश्मीरी राष्ट्रीयता के संघर्ष का नेतृत्व करने वाले जेकेएलएफ़ को भी समझ आयी और उसके नेतृत्व ने आधिकारिक तौर पर कश्मीरी पण्डितों से हुए अन्याय के लिए माफ़ी माँगी और पलायन कर चुके कश्मीरी पण्डित परिवारों को वापस कश्मीर बुलाया। लेकिन तब तक काफी नुकसान हो चुका था। बाद में कई कश्मीरी पण्डित परिवार लौटे लेकिन ज़्यादा कश्मीरी पण्डित नहीं लौटे। इसका एक कारण उनका बुरा अनुभव तो था ही लेकिन साथ ही यह भी था कि कश्मीरी पण्डितों को भारतीय राज्यसत्ता ने विभिन्न इलाक़ों में बसाया, नौकरियाँ और आरक्षण दिये और उन्हें हर प्रकार से लाभार्थी बनाया और इस वजह से वापस लौटने की अब उनके पास कोई वजह नहीं थी। अब अपनी भिन्न राष्ट्रीयता के होने की भावना और स्मृतियों के अलावा कश्मीर लौटने का उनका पास कोई भौतिक कारण नहीं था। लेकिन जो कश्मीरी पण्डित आज भी कश्मीर में हैं और जो भी कश्मीरी पण्डित बाद में कश्मीर लौटे, वे आज कश्मीरी मुसलमानों के साथ घुलमिलकर रहते हैं। **वे कश्मीरी पण्डित भी मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 को हटाये जाने का उसी प्रकार विरोध कर रहे हैं, जिस प्रकार कि अन्य कश्मीरी।**

नेहरू सरकार और उसके बाद की कांग्रेसी सरकारों ने कश्मीरी क़ौम के साथ जो धोखा शुरू किया था, मोदी-शाह की जोड़ी ने केवल उसे अपनी तार्किक परिणति पर पहुँचा दिया है। लेकिन यह कश्मीरी जनता के अभूतपूर्व दमन और उत्पीड़न पर आधारित है और भविष्य में यह भारतीय राज्यसत्ता के लिए ऐसी परेशानियाँ पैदा करेगा जिनका समाधान इस व्यवस्था के दायरे

(पेज 9 पर जारी)

मज़दूर साथियो! क्या किसी क़ौम को ग़ुलाम बनाने की हिमायत करके हम आज़ाद रह सकते हैं?

(पेज 8 से आगे)

में असम्भव होगा।

कश्मीर महज़ कोई ज़मीन का टुकड़ा नहीं है, बल्कि यह उन लोगों से बना है, जो कि इस ज़मीन को आबाद करते हैं; जो सदियों से वहाँ रहते आये हैं, जिनका अपना एक साझा इतिहास, संस्कृति, भाषा, अर्थव्यवस्था रही है। लेकिन भारत में राष्ट्रवाद के नाम पर हमारे बीच ऐसी भावना पैदा की जाती है कि हम कश्मीर को महज़ एक ज़मीन के टुकड़े के तौर पर देखते हैं। भारत का नक्शा दिखाकर हमें बताया जाता है कि कश्मीर भारत-माता का मुकुट है! **लेकिन जो लोग उस जगह पर सदियों से रहते आये हैं, जिन्होंने वहाँ फसलें उगाई हैं, उस ज़मीन को आबाद किया है, वहाँ इमारतें खड़ी की हैं, हर चीज़ पैदा की है, उनका क्या? क्या उनका उस ज़मीन पर कोई हक़ नहीं है? ज़रा सोचिये दोस्तो! हम जिस ज़मीन पर अपने पुरखों के समय से जीते, उत्पादन करते, घर बनाकर रहते आये हैं, कल को अगर कोई अमेरिका, ब्रिटेन या चीन आकर उसे छीन ले और दावा करे कि इस ज़मीन पर उसका हक़ है; यह दावा करे कि अब भारत की ज़मीन और भारत की औरतों पर उसका हक़ है (मानो औरतें जीती-जागती इंसान न होकर ज़मीन का कोई टुकड़ा हों!), तो क्या हमें यह स्वीकार होगा? क्या हम इसे बर्दाश्त करेंगे?** ज़ाहिर है, नहीं करेंगे और न ही करना चाहिए। बस ऐसा ही कुछ कश्मीरी क़ौम के साथ हो रहा है। जिस स्वायत्तता की शर्त पर वह भारत में शामिल हुई थी, उस शर्त को अन्यायपूर्ण तरीके से रद्द कर भारत का शासक वर्ग कश्मीरी क़ौम के साथ एक भयंकर धोखा कर रहा है। इसे कश्मीरी अवाम भी कभी स्वीकार नहीं करेगा। जब तक यह अन्याय जारी रहेगा, तब तक हम कश्मीर में शान्ति की उम्मीद नहीं कर सकते हैं। ताज़ा रपटों के आधार पर यह बात साफ़ है कि कश्मीर में हज़ारों की तादाद में जनता सड़कों पर उतरने लगी है। वह दमन और उत्पीड़न से आज़ादी चाहती है। वह फ़ौजी बन्दूकों और बूटों के साये में रह-रह कर थक चुकी है। वह अपने बच्चों और जवानों को पैलेट गन से अन्धा होते देख-देखकर थक चुकी है। वह अपनी ही ज़मीन पर संगीनों और चेकपोस्टों पर अपनी पहचान दिखाते-दिखाते थक चुकी है। क्या भारतीय शासक वर्ग संगीनों की नोक पर कश्मीरी जनता को हमेशा दबाकर रख सकता है? क्या वह डेढ़ करोड़ लोगों की हत्या कर इस मसले का समाधान कर सकता है? नहीं! यह न सिर्फ़ नामुमकिन है, बल्कि यह इस मसले को और भी उलझा देगा। देर-सबेर सेनाएँ थक जाती हैं। लेकिन लड़ती हुई क़ौमें कभी स्थायी रूप से नहीं थकतीं। जब तक दमन और उत्पीड़न जारी रहता है, तब तक वे बीच-बीच में कुछ देर को सुस्ताकर फिर से लड़ने लगती हैं। **इसलिए फ़ौजी रास्ते से कश्मीर समस्या का समाधान सम्भव ही नहीं है।** अगर होना होता तो अब तक हो चुका होता। दुनिया के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ है। सत्तर साल के बयान न किये जा सकने वाले दमन के बावजूद फ़िलिस्तीनी जनता के प्रतिरोध को इज़रायल कुचल नहीं सका। और कश्मीर न तो फ़िलिस्तीन है और न ही भारत इज़रायल। यहाँ तो यह और भी नामुमकिन है।

मज़दूर वर्ग और 'राष्ट्रवाद' की सोच

मज़दूर वर्ग का कोई राष्ट्र नहीं होता है। राष्ट्रवाद की विचारधारा का आधार होता है अन्य राष्ट्रों से नफ़रत और घृणा। यह पूँजीपति वर्ग की सोच होती है। क्योंकि उसके लिए जनता के भीतर वर्ग चेतना को रोकना ज़रूरी होता है, उसके लिए अपना माल बेचने के वास्ते अन्य राष्ट्रों के पूँजीपति वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा ज़रूरी होती है, उसके लिए अन्य राष्ट्रों के मज़दूर वर्ग से अपने मज़दूर वर्ग को अलग रखना और उनके भीतर अलगाव की भावना को रखना आवश्यक होता है। **लेकिन राष्ट्रवाद से मज़दूर वर्ग को क्या मिलता है? कुछ भी नहीं! जब भी राष्ट्रवाद के नाम पर भारत और पाकिस्तान में युद्ध हुआ तो क्या कोई नेता या नौकरशाह या उनके बच्चे उसमें मरे हैं? क्या सेना के उच्च अधिकारी आम तौर पर ऐसे युद्धों में मरते हैं? क्या आतंकवादी हमलों में कभी अमीरज़ादों की औलादें मरती हैं? अगर अम्बानी-अडानी-टाटा-बिड़ला इतने ही राष्ट्रवादी हैं, तो अपने बच्चों को सेना में क्यों नहीं भेजते? युद्ध से ये सारे जमकर मुनाफ़ा कमाते हैं, क्योंकि युद्ध के समय हथियारों की ख़रीद-फरोख़्त और दलाली में इन्हें ही पैसा मिलता है; भाजपाई तो इसमें सबसे गये-गुज़रे हैं, जिन्होंने कारगिल युद्ध में मारे गये सैनिकों के ताबूत की ख़रीद में भी घपला कर दिया था; युद्ध के दौरान क़ीमतें बढ़ जाती हैं, सट्टेबाज़ी और दलाली का बाज़ार गर्म हो जाता है। युद्ध जिन इलाक़ों पर कब्ज़े के लिए किया जाता है, उनमें भी लूट के लिए बाज़ार और निवेश कर सस्ते श्रम को लूटने और मुनाफ़ा पीटने की आज़ादी इन धनपशुओं को ही मिलती है! ज़रा सोचो कि आज तक ऐसे युद्धों से हम मज़दूरों-मेहनतकशों को क्या मिला? राष्ट्रवाद का बाज़ार गर्म होने से तुम्हें क्या मिला है, मज़दूर भाइयो और बहनो? जब भी ऐसे युद्ध होते हैं, तो देश में आपातकाल लागू कर दिया जाता है; मज़दूरों को 14-14 घण्टे काम के लिए मजबूर किया जाता है; हड़ताल करने या किसी भी रूप में काम के बोझ के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने को दण्डनीय अपराध बना दिया जाता है। तो मज़दूरों के लिए राष्ट्रवाद का मतलब क्या है? इसका अर्थ है मुँह पर ताले डालकर पूँजीपतियों के लिए हाड़तोड़ मेहनत करना और कोल्हू के बैल के समान खटना!**

क्या हम अपने देश से प्यार करते हैं? बिल्कुल करते हैं क्योंकि देश कोई नक्शा नहीं होता, बल्कि उसके मेहनत करने वाले लोगों से बनता है। किसी भी देश का आधार उसकी कुदरत और उसके मेहनतकश लोगों की मेहनत होती है। लेकिन देश से हमारा प्यार अन्य देशों से नफ़रत पर आधारित नहीं होता है, बल्कि उनके साथ भाईचारे पर आधारित होता है। हमारे लिए देश की एकता का अर्थ फ़ौजी बन्दूकों और बूटों के आधार किसी क़ौम को जबरन दबाकर रखना नहीं है। हमारे लिए देश की एकता का अर्थ है सभी मज़दूरों-मेहनतकशों की समानतामूलक एकता, चाहे वे किसी भी क़ौम के हों; हमारे लिए देश की एकता का अर्थ ही हर प्रकार के राष्ट्रीय दमन का ख़ात्मा और देश की सभी राष्ट्रीयताओं को बराबर का स्थान। केवल एक ऐसे देश की एकता ही शान्ति और न्याय के साथ बरकरार रह सकती है। क्या कश्मीर के पिछले छह दशक का इतिहास नहीं दिखलाता है कि कश्मीरी जनता के दमन के आधार पर कोई एकता स्थायी नहीं हो सकती है? क्या यह छह दशक का इतिहास दिखलाता नहीं है कि बिना न्याय के शान्ति और एकता क़ायम नहीं रह सकते हैं? **इसलिए मज़दूर भाइयो और बहनो! अपने मालिकों द्वारा चलायी जा रही अन्धराष्ट्रवाद की आँधी में बहने से पहले सोचो कि इससे तुम्हें क्या हासिल होगा? बेगाने की शादी में अब्दुल्ला दीवाना मत बनो! हमारी देशभक्ति के अर्थ अलग हैं। वह क़ौमों की बराबरी और हर क़ौम के मज़दूरों-मेहनतकशों की बराबरी पर आधारित है। वह पूँजीपति वर्ग के बाज़ार और मुनाफ़े पर नहीं बल्कि मेहनतकश जनता की मेहनत और देश की कुदरत पर आधारित है।**

यह भी समझने की ज़रूरत है साथियो कि इस भाजपाई फासीवादी राष्ट्रवाद का आधार धार्मिक कट्टरपंथ और साम्प्रदायिकता है। यह भी साफ है कि धार्मिक कट्टरपंथ और साम्प्रदायिकता का लाभ भी तुम्हारे मालिकों को ही मिलता है। **किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक दंगे में कभी कोई मालिक मरा है? किसी दंगे में कभी किसी मालिक का घर जला है? नहीं! इसमें हमेशा हम मरते हैं और हमारे घर जलते हैं! इसका फ़ायदा हमेशा पूँजीपतियों को होता है।** जब भी हम धर्म के नाम पर लड़ पड़ते हैं तो फ़ायदा मालिकों और ठेकेदारों को ही मिलता है। इसलिए मज़दूर साथियो, मालिकों-ठेकेदारों की साज़िश से सावधान रहो। लोगों को क्या खाना है, क्या पहनना है, कौन-सा धर्म मानना है या कोई धर्म नहीं मानना है, यह पूरी तरह से सबका निजी मामला है। इसे हमें सामाजिक या राजनीतिक मसला बनाना ही नहीं चाहिए। मज़दूर वर्ग को इस बुनियादी जनवादी सोच को अपनाना ही होगा, वरना वह मालिकों-ठेकेदारों और उनके टुकड़ों पर पलने वाली राजनीतिक पार्टियों की साजिश का निशाना बनता रहेगा और बेवकूफ़ बनकर अपने ही भाइयों-बहनों की जान लेता रहेगा। **बस इतना याद रखना होगा कि हमारा साझा दुश्मन पूँजीपति वर्ग है, चाहे हमारा धर्म या जाति कुछ भी हो। इसलिए अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की लहर में बहने की बजाय ठण्डे दिमाग से सोचो, इसमें हमारा क्या है? इसमें हमें क्या मिलेगा?**

कश्मीर के मुद्दे का स्थायी समाधान क्या हो सकता है?

साथियो! **हम मज़दूर और मेहनतकश हैं और हमारा कोई एक देश नहीं है।** हम किसी भी दमित व उत्पीड़ित राष्ट्रीयता के दमन के ख़िलाफ़ हैं और उसका विरोध करते हैं। **कारण यह है कि जो मज़दूर वर्ग अपने पूँजीपति वर्ग द्वारा किसी भी दमित राष्ट्रीयता के दमन का समर्थन करता है, वह स्वयं भी अपने पूँजीपति वर्ग के शोषण, दमन और उत्पीड़न का शिकार होने के लिए अभिशप्त होता है। जो मज़दूर वर्ग किसी अन्य राष्ट्रीयता को ग़ुलाम बनाये जाने का समर्थन करता है या उस पर चुप रहता है, वह स्वयं भी अपने मालिकों और ठेकेदारों की ग़ुलामी करने का मजबूर होता है।** कारण यह कि जब पूँजीपति वर्ग राष्ट्रवाद के नाम पर किसी दमित राष्ट्रीयता के दमन और उत्पीड़न को जायज़ ठहराने में कामयाब हो जाता है, तो वह अपने मज़दूर वर्ग के दमन और उत्पीड़न को भी राष्ट्रवाद और "देशभक्ति" के नाम पर सही ठहराने में सफल हो जाता है। इसलिए अपने देश के पूँजीपति वर्ग द्वारा किसी भी क़ौम के दमन और उत्पीड़न का समर्थन करना वास्तव में मज़दूर वर्ग के लिए आत्मघाती है।

मज़दूरों व मेहनतकशों की लड़ाई न्याय और समानता के लिए है। सिर्फ अपने लिए न्याय और समानता नहीं बल्कि समूची मानवता के लिए न्याय और समानता। वास्तव में, और किसी प्रकार की न्याय और समानता का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। इसलिए मज़दूर वर्ग कभी भी किसी भी सामाजिक हिस्से या राष्ट्रीयता या जाति के शोषण, दमन और उत्पीड़न का समर्थन नहीं कर सकता है। पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है और इसी राष्ट्रवाद की लहर को सांस्कृतिक तौर पर फैलाकर पूँजीपति वर्ग अपने दमन और शोषण को जायज़ ठहराने का आधार तैयार करता है। वह अन्य राष्ट्रों के दमन और उत्पीड़न के लिए मज़दूर वर्ग में भी सहमति पैदा करने का प्रयास करता है। हमें पूँजीपति वर्ग, मालिकों व ठेकेदारों की इस साज़िश के प्रति सावधान रहना चाहिए। हमें हर कीमत पर हर प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीड़न का विरोध करना चाहिए, अन्यथा हम अनजाने ही खुद अपने दमन और शोषण को सही ठहराने की ज़मीन पैदा करेंगे।

इन बातों की रोशनी में हमें सबसे पहले तो कश्मीरी जनता के राष्ट्रीय दमन का विरोध करते हुए जम्मू-कश्मीर से सैन्य तानाशाही शासन को समाप्त करने, सशस्त्र बल विशेष शक्तियाँ अधिनियम (आफ्सपा) को हटाने, कश्मीर से सेना हटाने का समर्थन करना चाहिए। इसके अलावा, हमें जम्मू-कश्मीर में तत्काल स्वतंत्र और निष्पक्ष जनवादी चुनाव की मांग करनी चाहिए ताकि वहाँ की जनता को अपनी विधान सभा चुनने का पूँजीवादी जनवादी अधिकार मिले। साथ ही, हमें समूचे जम्मू-कश्मीर (पाक अधिकृत कश्मीर समेत) में जनमत संग्रह की मांग को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उठाना चाहिए; इसके अलावा, हमें जम्मू-कश्मीर की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करना चाहिए। ये सारी वे बुनियादी जनवादी मांगें हैं, जो कि हमें मज़दूर वर्ग व मेहनतकश आबादी की ओर से उठानी ही चाहिए।

लेकिन कुछ अन्य बातें हैं जिन्हें समझना बेहद ज़रूरी है। **साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की क्षमता खो चुका है। वास्तव में, आज पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय प्रश्न को हल कर ही नहीं सकता है। एक समाजवादी राज्य ही राष्ट्रों को वास्तव में आत्मनिर्णय का अधिकार दे सकता है और राष्ट्रीय दमन का समूल नाश कर सकता है।** साम्राज्यवाद के युग का मरणासन्न और परजीवी पूँजीवाद दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दे ही नहीं सकता है। कारण यह कि साम्राज्यवाद के युग में मुनाफ़े की गिरती दर का संकट सर्वाधिक गम्भीर रूप में और अपने अन्तकारी रूप में प्रकट होता है। लाभप्रद निवेश के अवसर घटते जाते हैं और बाज़ारों के लिए पूँजीवादी देशों में प्रतिस्पर्द्धा गलाकाटू रूप अख़्तियार कर लेती है। ऐसे में, क्षेत्रीय विस्तारवाद भी बढ़ता है और पूँजीपति वर्ग का कट्टरपंथी और प्रतिक्रियावादी चरित्र भी अत्यधिक बढ़ता जाता है। इस दौर में सभी दमित अस्मिताओं का उत्पीड़न बर्बरता की नयी सीमाओं को छूने लगता है। चाहे वे प्रवासी हों, दलित हों, स्त्रियाँ हों, आदिवासी हों या फिर दमित राष्ट्रीयताएँ। आज के दौर में पूँजीपति वर्ग से यह उम्मीद करना ही हास्यास्पद होगा कि वह किसी भी दमित राष्ट्रीयता को आत्मनिर्णय का अधिकार देगा। राष्ट्रीय दमन का ख़ात्मा तभी हो सकता है, जबकि समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये मज़दूर वर्ग सर्वहारा सत्ता स्थापित करे और समाजवादी राज्य और अर्थव्यवस्था का निर्माण करे। इतिहास में भी राष्ट्रों को सही मायने में आत्मनिर्णय का अधिकार देकर राष्ट्रीय दमन को ख़त्म करने का काम तभी हुआ है, जबकि मज़दूर वर्ग सत्ता में रहा है। मिसाल के तौर पर, यह काम सबसे शानदार तरीके से सोवियत संघ ने करके दिखलाया। अक्तूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस में मज़दूर

(पेज 10 पर जारी)

‘यूएपीए’ संशोधन बिल : काले कारनामों को अंजाम देने के लिए लाया गया काला क़ानून

– आनन्द सिंह

आज़ाद भारत में विभिन्न सरकारों द्वारा लाये गये काले क़ानूनों का एक लम्बा इतिहास रहा है। इन काले क़ानूनों की फ़ेहरिस्त में 1950 का प्रिवेण्टिव डिटेंशन एक्ट, 1958 का ऑर्म्ड फ़ोर्सेज़ (स्पेशल पावर्स) एक्ट (आफ्स्पा), 1967 का अनलॉफ़ुल एक्टिविटीज़ (प्रिवेंशन) एक्ट (‘यूएपीए’), 1971 का मेण्टिनेंस ऑफ़ इण्टरनल सिक्योरिटीज़ एक्ट (मीसा), 1980 का नेशनल सिक्योरिटीज़ एक्ट, 1985 का टेररिस्ट एण्ड डिसरप्टिव एक्टिविटीज़ एक्ट (टाडा), 2001 का प्रिवेंशन ऑफ़ टेररिज़्म एक्ट (पोटा) शामिल हैं। हालाँकि हर बार ऐसे काले क़ानूनों को बनाने का मक़सद क़ानून-व्यवस्था और अमन-चैन क़ायम रखना बताया जाता है, लेकिन असलियत यह है कि शासक वर्गों को ऐसे काले क़ानूनों की ज़रूरत अपने शोषणकारी, और दमनकारी शासन के ख़िलाफ़ उठने वाली आवाज़ों को बर्बरता से कुचलने के लिए पड़ती है। अब चूँकि केन्द्र में एक फ़ासीवादी सत्ता काबिज़ है, काले क़ानूनों को बेशर्मी से लागू करने के मामले में पुराने सारे कीर्तिमान ध्वस्त किये जा रहे हैं। मोदी सरकार अब कुख्यात ‘यूएपीए’ क़ानून में संशोधन करके अपनी फ़ासीवादी नीतियों का विरोध करने वालों को आतंकी घोषित करने की पूरी तैयारी कर चुकी है। इसीलिए इस संशोधन के बाद ‘यूएपीए’ को आज़ाद भारत के इतिहास का सबसे ख़तरनाक क़ानून कहा जा रहा है।

‘यूएपीए’ क़ानून सबसे पहले 1967 में लाया गया था, जब कुछ गतिविधियों को अवैध घोषित किया गया था। लेकिन हाल के वर्षों में इस क़ानून में संशोधन करके इसे मुख्य आतंकवादी निरोधक क़ानून के रूप में स्थापित किया गया है। 2004 में तत्कालीन संप्रग सरकार ने आतंकवाद निरोधक कुख्यात क़ानून पोटा को निरस्त करके बड़ी ही चालाकी से उसके कुछ ख़तरनाक प्रावधानों को ‘यूएपीए’ में डाल दिया और अवैध कृत्यों की परिभाषा में “आतंकवादी कृत्य” तथा “आतंकवादी संगठन” को भी शामिल कर लिया। उसके बाद 2008 और 2012 में भी इस क़ानून में संशोधन किये गये और पुलिस हिरासत की अवधि, बिना चार्जशीट के गिरफ़्तारी और जमानत पर पाबन्दी जैसे सख़्त प्रावधान इसमें शामिल कर लिये गये। अब मोदी सरकार ने इस क़ानून में संशोधन करके इसे आज़ाद भारत का सबसे काला क़ानून बना दिया है।

मौजूदा संशोधन के तहत नेशनल इनवेस्टिगेशन एजेंसी (एनआईए) को ऐसे मामलों की जाँच-पड़ताल का अधिकार दे दिया गया है, जो अब तक राज्यों की पुलिस के अधिकार क्षेत्र में रहते थे। यह स्पष्टत: राज्यों के अधिकारों को अतिक्रमण और संघीय ढाँचे के ख़िलाफ़ है तथा फ़ासीवादी सरकार में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को ही दिखाता है। दूसरी बात जो ज़्यादा महत्वपूर्ण है, वह यह है कि मौजूदा संशोधन केन्द्र सरकार को अधिकार देता है कि वह न सिर्फ़ किसी संगठन को बल्कि किसी व्यक्ति को भी आतंकवादी घोषित कर सकती है।

गृह मंत्री अमित शाह ने संशोधन बिल प्रस्तुत करते हुए लोकसभा में कहा, “आतंकवाद के साहित्य को और आतंकवाद की थियरी को युवाओं के ज़ेहन में उतारने के लिए जो प्रयास करता है। मान्यवर, मैं मानता हूँ आतंकवाद बन्दूक से पैदा नहीं होता – आतंकवाद को फैलाने के लिए जो अप-प्रचार होता है, उन्माद फैलाया जाता है, वो आतंकवाद का मूल है। और अगर इस सबको आतंकवादी घोषित करते हैं तो मैं मानता हूँ कि सदन के किसी भी सदस्य को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।” ‘यूएपीए’ में कहीं भी यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि ‘आतंकवाद का साहित्य’ या ‘आतंकवाद की थियरी’ की परिभाषा क्या है। ऐसे में सरकार को यह अधिकार मिल गया है कि वह ऐसे सभी साहित्य और थियरी को आतंकवादी घोषित कर दे जो उसकी नीतियों को पर्दाफ़ाश करते हों और सरकार की जवाबदेही तय करते हों।

ग़ौरतलब है कि मौजूदा ‘यूएपीए’ क़ानून के चैप्टर 4 में पहले से ही ऐसा प्रावधान है जिसके तहत सरकार ऐसे किसी व्यक्ति के ख़िलाफ़ मुक़दमा चला सकती है, जो आतंकवादी कृत्यों में लिप्त पाया गया हो। अगर सरकार ऐसे साक्ष्य प्रस्तुत करे कि उस व्यक्ति ने वास्तव में किसी आतंकवादी घटना को अंजाम दिया है तो ‘यूएपीए’ के तहत ही अदालत उस व्यक्ति को सज़ा सुना सकती है। इसके बावजूद भी अगर सरकार ने इस क़ानून में व्यक्ति को आतंकवादी घोषित करने का प्रावधान अलग से जोड़ा है तो इसका सीधा मतलब यह है कि वह इस प्रावधान का इस्तेमाल ऐसे लोगों को भी आतंकवादी घोषित करने के लिए करना चाहती है जिनके ख़िलाफ़ उसके पास पर्याप्त प्रमाण नहीं है और जिसे वह बदनाम करना चाहती है। हम सभी जानते हैं कि एक बार अगर सरकार किसी व्यक्ति को आतंकवादी घोषित कर देती है तो उसे कितना सामाजिक अपमान झेलना पड़ता है, ऐसे व्यक्ति को कोई काम मिलना नामुमकिन हो जाता है, उसे रहने के लिए घर नहीं मिलता और उसके बच्चों को स्कूल में दाख़िला नहीं मिलता।

हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादियों के निशाने पर कौन लोग हैं, इसको लेकर किसी को तनिक भी सन्देह हो तो उसे अमित शाह के उस भाषण को ज़रूर सुनना चाहिए जो उन्होंने ‘यूएपीए’ क़ानून में संशोधन प्रस्तुत करते हुए लोकसभा में दिया था। उस भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा था, “उन लोगों को बख्शा नहीं जायेगा जो शहरी माओवादियों के लिए काम करते हैं”। पिछले कुछ अरसे से संघ परिवार और उसके लगू-भग्गू ‘अर्बन नक्सल’ और ‘अर्बन माओवादी’ जैसे जुमलों का धड़ल्ले से प्रयोग करते आये हैं। अब संघ परिवार की काली करतूतों का पर्दाफ़ाश करने वालों को आतंकवादी घोषित करने के संघ के एजेण्डे को लागू करने के लिए ‘यूएपीए’ में डाले गये काले प्रावधानों का इस्तेमाल किया जायेगा। हाल ही में आरएसएस की एक अनुषंगी संस्था ‘विश्व संवाद केन्द्र’ ने एक पैम्फ़लेट निकाला है, जिसका शीर्षक है, “कौन हैं अर्बन नक्सल?” इस पैम्फ़लेट में गौतम नवलखा और सुधा भारद्वाज जैसे देश के प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कर्मियों को अर्बन नक्सल बताया गया है जिनके ख़िलाफ़ पहले से ही ‘यूएपीए’ के तहत मुक़दमा चल रहा है। ‘यूएपीए’ में किये गये संशोधन के बाद सरकार के पास अपने विरोधियों को देशद्रोही और आतंकवादी घोषित करने का एक नया औज़ार मिल गया है। किसी को तनिक भी सन्देह हो तो उसे अमित शाह के उस भाषण को ज़रूर सुनना चाहिए जो उन्होंने ‘यूएपीए’ क़ानून में संशोधन प्रस्तुत करते हुए लोकसभा में दिया था। उस भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा था, “उन लोगों को बख्शा नहीं जायेगा जो शहरी माओवादियों के लिए काम करते हैं”। पिछले कुछ अरसे से संघ परिवार और उसके लगू-भग्गू ‘अर्बन नक्सल’ और ‘अर्बन माओवादी’ जैसे जुमलों का धड़ल्ले से प्रयोग करते आये हैं। अब संघ परिवार की काली करतूतों का पर्दाफ़ाश करने वालों को आतंकवादी घोषित करने के संघ के एजेण्डे को लागू करने के लिए ‘यूएपीए’ में डाले गये काले प्रावधानों का इस्तेमाल किया जायेगा। हाल ही में आरएसएस की एक अनुषंगी संस्था ‘विश्व संवाद केन्द्र’ ने एक पैम्फ़लेट निकाला है, जिसका शीर्षक है, “कौन हैं अर्बन नक्सल?” इस पैम्फ़लेट में गौतम नवलखा और सुधा भारद्वाज जैसे देश के प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कर्मियों को अर्बन नक्सल बताया गया है जिनके ख़िलाफ़ पहले से ही ‘यूएपीए’ के तहत मुक़दमा चल रहा है। ‘यूएपीए’ में किये गये संशोधन के बाद सरकार के पास अपने विरोधियों को देशद्रोही और आतंकवादी घोषित करने का एक नया औज़ार मिल गया है। किसी को तनिक भी सन्देह हो तो उसे अमित शाह के उस भाषण को ज़रूर सुनना चाहिए जो उन्होंने ‘यूएपीए’ क़ानून में संशोधन प्रस्तुत करते हुए लोकसभा में दिया था। उस भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा था, “उन लोगों को बख्शा नहीं जायेगा जो शहरी माओवादियों के लिए काम करते हैं”। पिछले कुछ अरसे से संघ परिवार और उसके लगू-भग्गू ‘अर्बन नक्सल’ और ‘अर्बन माओवादी’ जैसे जुमलों का धड़ल्ले से प्रयोग करते आये हैं। अब संघ परिवार की काली करतूतों का पर्दाफ़ाश करने वालों को आतंकवादी घोषित करने के संघ के एजेण्डे को लागू करने के लिए ‘यूएपीए’ में डाले गये काले प्रावधानों का इस्तेमाल किया जायेगा। हाल ही में आरएसएस की एक अनुषंगी संस्था ‘विश्व संवाद केन्द्र’ ने एक पैम्फ़लेट निकाला है, जिसका शीर्षक है, “कौन हैं अर्बन नक्सल?” इस पैम्फ़लेट में गौतम नवलखा और सुधा भारद्वाज जैसे देश के प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कर्मियों को अर्बन नक्सल बताया गया है जिनके ख़िलाफ़ पहले से ही ‘यूएपीए’ के तहत मुक़दमा चल रहा है। ‘यूएपीए’ में किये गये संशोधन के बाद सरकार के पास अपने विरोधियों को देशद्रोही और आतंकवादी घोषित करने का एक नया औज़ार मिल गया है।

कश्मीर के मुद्दे पर सोचने के लिए कुछ बेहद ज़रूरी सवाल

(पेज 9 से आगे)

वर्ग ने अपनी सत्ता स्थापित की और रूसी साम्राज्य की सभी राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया।

इससे यह भी साबित हुआ कि अगर राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाता है, उनका दमन समाप्त होता है और उन्हें सही मायने में बराबरी का हक़ मिलता है, तो वे स्वेच्छा से एक समाजवादी राज्य में शामिल होती हैं। **''देश टूट'' जाने का भय पूँजीपति वर्ग अपने राष्ट्रवाद के प्रचार द्वारा जनता के दिमाग में बिठाता है क्योंकि उसके द्वारा जारी राष्ट्रीय दमन के कारण देश वास्तव में अन्दर से टूटा हुआ ही होता है और दमित राष्ट्रीयताओं को ज़ोर-ज़बर्दस्ती से जोड़कर रखा गया होता है।** यह एकता दिखावटी होती है क्योंकि दमित राष्ट्रीयताएँ अपने आपको कभी दिल से देश के अंग के तौर पर स्वीकार नहीं करती हैं। **सोवियत संघ ने दिखलाया कि यदि राष्ट्रों का दमन और उनके प्रति बरता जाने वाला असमानता का बर्ताव समाप्त कर सच्चे मायने में एक ऐसे समाजवादी गणराज्य की स्थापना की जाये जिसमें सभी राष्ट्रीयताओं को बराबरी का दर्जा मिला हो, तो देश टूटते नहीं बल्कि सभी राष्ट्रीयताओं की जनता मिलकर स्वेच्छा से अधिकतम सम्भव बड़े साझा राज्य का निर्माण करती है। इसलिए ''देश टूट जाने'' का डर पूरी तरह से बेबुनियाद होता है।**

मज़दूर वर्ग तो हमेशा ही स्वेच्छा से बनी एकता के आधार पर बड़े से बड़े राज्य के निर्माण के पक्ष में होता है। आज कश्मीर की ही बात क्यों करें, क्रान्तिकारी मज़दूर पक्ष के तौर पर हम तो पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की सभी राष्ट्रीयताओं को शामिल करने वाले एक समाजवादी गणराज्य के निर्माण के पक्ष में हैं। **लेकिन क्या यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती के आधार पर किया जा सकता है? क्या ज़ोर-ज़बर्दस्ती से जोड़-गाँठ कर बनाया गया कोई राज्य न्याय और शान्ति के साथ रह सकता है? क्या उस देश में सभी को बराबरी के साथ और शोषण व उत्पीड़न से मुक्त होकर रहने का हक़ मिल सकता है? नहीं!** हमारा मानना है कि ऐसा साझा राज्य तभी बन सकता है, जबकि उसके भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाली सभी राष्ट्रीयताएँ स्वेच्छा से और समानता के आधार पर एक हों। ऐसी एकता स्थापित की जा सकती है। लेकिन वह पूँजीवाद के रहते सम्भव नहीं है। वह समाजवादी राज्य के साथ ही सम्भव है।

इसलिए जहाँ आज हमें हर कीमत पर कश्मीरी जनता के दमन का विरोध करना चाहिए और वहाँ तत्काल विसैन्यकरण और जनवादी चुनावों की मांग करनी चाहिए, वहीं हमें यह भी याद रखना चाहिए कि किसी भी दमित राष्ट्रीयता को हर प्रकार के राष्ट्रीय दमन से सच्चे तौर पर मुक्ति समाजवादी क्रान्ति के साथ ही मिल सकती है। इसलिए हर दमित राष्ट्रीयता के संघर्ष की डोर को इतिहास ने क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के साथ अभिन्न रूप से जोड़ दिया है। जहाँ क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह नैतिक और ऐतिहासिक दायित्व है कि वह हर कीमत पर दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्षों का समर्थन करे, वहीं दमित राष्ट्रीयताओं के आन्दोलन के सामने भी यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के साथ मोर्चा बनाये बग़ैर वह अपने लक्ष्य को शायद ही प्राप्त कर पायेगा। बेशक़ वह हारेगा नहीं और न ही ख़त्म होगा; लेकिन उसका जीतना भी मुश्किल होगा। **बीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों के लिए यह अनिवार्य था कि वह राष्ट्रीय मुक्ति और जनवादी किसान आन्दोलन का समर्थन करें; इक्कीसवीं सदी के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के लिए यह अनिवार्य है कि वह क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन और समाजवाद से रिश्ता कायम करें। यह आज की ठोस सच्चाई है, जिसे समझना मज़दूर क्रान्तिकारियों और साथ ही राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध लड़ रही जनवादी शक्तियों के लिए ज़रूरी है।**

अन्त में, यह फिर से कहा जाना चाहिए कि सच्चे मज़दूर क्रान्तिकारियों को हर कीमत पर हर प्रकार के राष्ट्रीय दमन का विरोध करना चाहिए और दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्षों का बिना शर्त समर्थन करना चाहिए। यदि मज़दूर वर्ग की ताक़तें ऐसा करने में असफल होती हैं और जाने या अनजाने अपने देश के पूँजीपति वर्ग के मुखर या मौन समर्थन की राष्ट्रीय व सामाजिक कट्टरपंथी अवस्थिति अपनाती हैं, तो वह अपने देश के पूँजीपति वर्ग को स्वयं अपना दमन करने का भी लाईसेंस और वैधीकरण प्रदान करती हैं। ऐसी कुछ ताक़तें भारत में भी हैं जिन्होंने 5 अगस्त को अनुच्छेद 370 के रद्द होने के बाद ज़ुबान पर ताला लगा लिया है और कश्मीर के मसले पर कुछ भी बोलने से घबरा गयी हैं। ऐसे ग्रुपों व संगठनों को कल इतिहास के कठघरे में खड़ा होकर एक असम्भव सफाई देने का प्रयास करना पड़ेगा। आज हमें धारा के विरुद्ध तैरते हुए कश्मीरी जनता के राष्ट्रीय दमन का विरोध करना होगा और उनके जनवादी हक़ों के संघर्ष का समर्थन करना होगा। केवल तभी हम फासीवादी मोदी सरकार और पूँजीवादी राज्यसत्ता को अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की आँधी चलाकर हर प्रकार के प्रतिरोध व आन्दोलन को कुचलने को सही ठहराने से रोक सकते हैं, उसके सामने एक क्रान्तिकारी चुनौती पेश कर सकते हैं। अन्यथा हम संघर्ष शुरू होने से पहले ही हार जायेंगे। यह हमारा कर्तव्य और दायित्व है कि हम क्रान्तिकारी मज़दूर पक्ष के तौर पर हर प्रकार के दमन और शोषण का विरोध करें और उसके ख़िलाफ़ लड़ें। राष्ट्रीय दमन भी उनमें से एक है। आज वह वक्त आ चुका है कि हम अपनी इस प्रतिबद्धता पर अमल करें और इतिहास द्वारा उपस्थित चुनौती का सामना करें।

एनएमसी विधेयक : मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर फ़ासीवाद की मार

- डॉक्टर्स फ़ॉर सोसाइटी

किसी भी देश में मेडिकल शिक्षा को सुचारू रूप से चलाने का काम किसी स्वायत्त संस्था का होता है जो यह सुनिश्चित करती है कि शिक्षा की गुणवत्ता और प्रणाली बेहतर तरीक़े से चलती रहे। अपने देश में यह काम भारतीय चिकित्सा परिषद यानी मेडिकल काउंसिल ऑफ़ इण्डिया (MCI) करती है। भारत में आधुनिक चिकित्सा की शुरुआत ब्रिटिश राज के दौरान हुई थी। पहले पहल आधुनिक ढंग से चिकित्सा करने वाले चिकित्सक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना और अधिकारियों के इलाज का काम करती थी। बाद में जब अंग्रेज़ों ने एक-एक करके अधिकतर भारतीय राज्यों को जीत लिया तो उन राज्यों का प्रशासन कम्पनी चलाने लगी। ऐसे में कम्पनी ने यहाँ आधुनिक अस्पताल और संस्थान खोलने शुरू किये। भारत में पहला आधुनिक अस्पताल 1664 में मद्रास प्रेसिडेंसी के फ़ोर्ट सेण्ट जॉर्ज में खोला गया था। 1691 में पुर्तगालियों ने गोआ में पहला मेडिकल कॉलेज खोला। 1835 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता और मद्रास में दो मेडिकल कॉलेज खोले। फ्रांसीसियों ने पाण्डिचेरी में 1823 में मेडिकल कॉलेज खोला।

1857 के बाद अधिकतर भारत का शासन सीधा ब्रिटिश सरकार के अधीन आ गया था। लेकिन मेडिकल शिक्षा को रेगुलेट करने का काम 1933 तक नहीं हो पाया था। 1933 में ब्रिटिश सरकार ने इण्डियन मेडिकल काउंसिल एक्ट पास किया और इसके तहत 1934 में भारतीय चिकित्सा परिषद की स्थापना की गयी। आज़ादी के बाद 1956 में भारत सरकार ने इण्डियन मेडिकल काउंसिल एक्ट को दोबारा से रिवाइज किया और मेडिकल काउंसिल का पुनर्गठन किया। तब से अब तक मेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता को सुनिश्चित करती है। तो मेडिकल काउंसिल काम क्या करती है? सबसे पहले तो यह पूरे देश में मेडिकल स्नातक शिक्षा के लिए एक समान मानक तय करती है और इन्हें लागू करती है। यह परास्नातक मेडिकल शिक्षा के मानकों को भी तय करती है। यह विदेशी चिकित्सा कोर्सों को भारत में अनुमति प्रदान करती है, भारत में मेडिकल कॉलेजों को मान्यता प्रदान करती है, यह क्वालिफ़ाइड डॉक्टरों को रजिस्टर करती है, रजिस्टर्ड डॉक्टरों की डायरेक्टरी बनाती है।

बहरहाल 2015-16 में भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मन्त्रालय ने देश में मेडिकल शिक्षा प्रणाली की समीक्षा के लिए एक संसदीय समिति गठित की थी। इस समिति ने मार्च 2016 में अपनी रिपोर्ट मंत्रालय को सौंपी थी। रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत में मेडिकल एजुकेशन का ढाँचा ख़राब हो चुका है और इसके लिए एमसीआई का मौजूदा संविधान ज़िम्मेदार है। जिस समय यह रिपोर्ट तैयार हो रही थी उसी समय सरकार ने नीति आयोग की देखरेख में भारतीय चिकित्सा परिषद एक्ट 1956 की समीक्षा के लिए एक तीन सदस्यीय कमेटी का गठन किया। 7 अगस्त 2016 तक इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। कमेटी ने सुझाव दिया था कि पुराने एमसीआई एक्ट को निरस्त कर दिया जाये और एक राष्ट्रीय मेडिकल आयोग का गठन किया जाये।

वर्ष 2017 में सरकार ने राष्ट्रीय मेडिकल आयोग विधेयक लोकसभा में पेश किया था। इस विधेयक के अनुसार मेडिकल शिक्षा और प्रैक्टिस को रेगुलेट करने के लिए मेडिकल कॉउंसिल की जगह एक राष्ट्रीय मेडिकल आयोग का गठन किया जाना था। यह आयोग प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों की 40 प्रतिशत सीटों पर फ़ीस को भी रेगुलेट करने वाला था। इसमें 25 सदस्य होने थे जिनकी नियुक्ति के लिए सरकार द्वारा गठित एक सर्च कमेटी सरकार को सिफ़ारिश करने वाली थी। इस आयोग के तहत स्नातक चिकित्सा शिक्षा, परास्नातक चिकित्सा शिक्षा, मेडिकल संस्थानों की मान्यता और आकलन और इस पेशे की प्रैक्टिस के विनियमन के लिए चार अलग-अलग स्वायत्त बोर्डों का गठन होना था। यह विधेयक एमबीबीएस होने के बाद डॉक्टरों को प्रैक्टिस के लिए लाइसेंस देने हेतु एक राष्ट्रीय लाइसेंस परीक्षा का भी प्रावधान करता था। इसी परीक्षा के आधार पर ही परास्नातक कोर्स में दाख़िले मिलने थे। डॉक्टरों से सम्बन्धित शिकायतें राज्यों की मेडिकल काउंसिलों को सुननी थी।

नीति आयोग की कमेटी का कहना था मेडिकल कॉउंसिल असल में मेडिकल कॉलेजों के लिए एक बाधा बन गयी थी। मेडिकल कॉलेजों से यहाँ मतलब ज़ाहिरा तौर पर प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों से ही था। कमेटी ने कहा था कि भारतीय मेडिकल कॉउंसिल शिक्षा की गुणवत्ता में कोई सुधार नहीं कर रही है, बल्कि यह सुधार में बाधक बनी हुई है। मेडिकल कॉउंसिल मेडिकल कॉलेजों का निरीक्षण करती है और तय मानकों के अनुसार उन्हें मान्यता प्रदान करती है या फिर मान्यता रद्द भी कर करती है। कमेटी ने कहा था कि निरीक्षण की यह प्रणाली असल में शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान ही नहीं देती। सिर्फ़ इन्फ्रास्ट्रक्चर पर ध्यान केन्द्रित करती है, जबकि इन्फ्रास्ट्रक्चर से ज़्यादा शिक्षा की गुणवत्ता ज़रूरी है। यहाँ पर नीति आयोग साफ़ तौर पर गुणवत्ता और इन्फ्रास्ट्रक्चर के अन्तर्सम्बन्धों को जानबूझकर अनदेखा कर रहा था। इन्फ्रास्ट्रक्चर में मेडिकल कॉलेज में मौजूद सुविधाओं सहित अस्पताल, लेबोरेटरी, आपरेशन थिएटर, स्वास्थ्य और ट्रेनिंग केन्द्र, पढ़ाने के लेक्चर हाल, सेमिनार हाल, छात्रों के बैठने की जगहें, हॉस्टल, फ़ील्ड प्रैक्टिस एरिया, ओपीडी, वार्ड, हर विभाग में शिक्षकों और डॉक्टरों की एक न्यूनतम संख्या आदि तमाम चीज़ें आती हैं। अगर इनकी तरफ़ ध्यान न दिया जाये तो मेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता किस तरह से बढ़ेगी, यह समझ से बाहर की चीज़ है। अगर तय मानकों पर कोई कॉलेज खरा नहीं उतरता तो कुछ मेडिकल कॉलेजों की मान्यता इण्डियन मेडिकल कॉउंसिल रद्द करती आयी थी। कॉउंसिल व्याप्त भ्रष्टाचार के बावजूद। नीति आयोग का मानना था कि यह सब इंस्पेक्टर राज की तरह है और मेडिकल कॉउंसिल को नाजायज शक्तियाँ मिली हुई हैं जिनका प्रयोग वह प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों के ख़िलाफ़ करती है। इसलिए नीति आयोग की कमेटी ने सिफ़ारिश की थी कि मान्यता रद्द करना बन्द करके रेटिंग सिस्टम लागू किया जाये। क्योंकि इतनी शक्तियों के कारण मेडिकल कॉउंसिल धौंस तो जमाती ही है साथ में यह भ्रष्टाचार का भी सबसे बड़ा कारण है। निरीक्षण करने गये निरीक्षक मान्यता देने के नाम पर बहुत ज़्यादा भ्रष्टाचार करते हैं। कमेटी की सिफ़ारिश थी कि निरिक्षण की बजाय शिकायत निवारण तन्त्र का निर्माण किया जाये और संस्थानों को ये सभी कमियाँ दूर करने का पूरा मौक़ा दिया जाये। जब कमियाँ दूर न हों तो सम्बन्धित संस्थान को कम रेटिंग दी जाये और उस पर जुर्माना लगाया जाये। लेकिन यह बात बिल्कुल भी गले से उतरने की नहीं है कि मानकों पर खरा न उतरने वाले ख़राब मेडिकल कॉलेज मान्यता रद्द करने की बजाय रेटिंग सिस्टम लागू कर देने से भ्रष्टाचार कैसे कम हो जायेगा? रिश्वत तो अच्छी रेटिंग के लिए भी दी या ली जा सकती है। बहरहाल इस विधेयक में ये सभी सिफ़ारिशें शामिल थी।

एक अन्य सिफ़ारिश जो विधेयक में शामिल थी, वह यह कि प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों को 60 फ़ीसदी सीटों पर अपनी मर्ज़ी से फ़ीस लेने की छूट दी जाये। उन पर से नियंत्रण हटा लिया जाये। इसके पीछे दिया गया तर्क भी बहुत हास्यास्पद था। सरकार का कहना था कि प्राइवेट मेडिकल कॉलेज वाले कैपिटेशन फ़ीस लेते हैं, जिससे काला धन बढ़ता है। इसलिए उस काले धन को ही फ़ीस के रूप में सफ़ेद कर दिया गया। बाक़ी कोई अन्तर नहीं पड़ा, बस कॉलेज मालिकों का काला धन सफ़ेद हो गया।

एक अन्य चीज़ तो इस विधेयक में थी, वह यह कि आयुष चिकित्सक (यानी आयुर्वेदिक, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी के डॉक्टर) भी एक ब्रिज कोर्स करने के बाद आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से इलाज कर सकेंगे। इससे यह नुक़सान होना था कि एक तो इन चिकित्सा पद्धतियों के डॉक्टरों ने जो इन पद्धतियों की 5 साल की पढ़ाई की थी, वह बेकार चली जानी थी और दूसरा यह कि कुछ सालों का ब्रिज कोर्स साढ़े पाँच साल के मूल कोर्स का स्थान नहीं ले सकता। इससे मरीज़ों का भी नुक़सान होता और आयुष पद्धतियों का भी।

ख़ैर डॉक्टरों के चौतरफ़ा विरोध के बीच राज्यसभा में बहुमत न होने की वजह से सरकार यह बिल पास नहीं करवा पायी थी। लेकिन अब सरकार के पास लोकसभा और राज्यसभा दोनों में प्रचण्ड बहुमत है। इसलिए अब सरकार 2019 में कुछ संशोधनों के बाद इस बिल को दोबारा लेकर आयी है। लेख लिखे जाने तक यह विधेयक लोकसभा और राज्यसभा दोनों जगह पारित हो चुका था। बस राष्ट्रपति की मंजूरी मिलनी बाक़ी थी। राष्ट्रपति की मंजूरी महज एक औपचारिकता ही होती है। इसलिए जल्द ही यह बिल क़ानून बन जायेगा। बहरहाल अभी बात करते हैं कि संशोधनों के बाद पेश हुए इस बिल के क़ानून बनने के बाद क्या होगा?

यह विधेयक जब क़ानून बन जायेगा तब –

1. भारतीय चिकित्सा परिषद क़ानून 1956 रद्द हो जायेगा।

2. उसकी जगह एक राष्ट्रीय मेडिकल आयोग गठित होगा जिसमें 25 सदस्य होंगे। इनमें से सिर्फ़ 5 का चुनाव होगा और बाक़ी 20 सरकार द्वारा मनोनीत होंगे।

3. प्राइवेट कॉलेजों की 50 प्रतिशत सीटों की फ़ीस सरकारी नियंत्रण से बाहर होगी।

4. एमबीबीएस के बाद एक नेशनल एग्ज़िट टेस्ट होगा जो पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स में दाख़िले और प्रैक्टिस के लिए लाइसेंस का आधार बनेगा।

5. प्राइवेट मेडिकल कॉलेज अपनी मर्ज़ी से सीटों की संख्या 250 तक बढ़ा सकेंगे और अपनी मर्ज़ी से पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स शुरू कर सकेंगे। इसके लिए किसी मानक आधारित निरीक्षण की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

6. मान्यता रद्द करने या सालाना निरीक्षण का प्रावधान बन्द कर दिया जायेगा और कॉलेजों का रेटिंग सिस्टम शुरू किया जायेगा।

7. ब्रिज कोर्स की बजाय अब साढ़े तीन लाख कम्युनिटी हेल्थ प्रोवाइडर यानी सामुदायिक स्वास्थ्य प्रदाताओं की नियुक्ति होगी जो पैरामेडिकल फ़ील्ड से होंगे और 6 महीने के कोर्स के बाद सामुदायिक स्वास्थ्य स्तर पर कुछ विशेष दवाएँ दे सकेंगे।

हमारे लिए चिन्ता के मुख्य विषय यही हैं। इन पर हम एक-एक करके बात करेंगे।

सबसे पहली बात इस आयोग के सदस्यों की। पहले एमसीआई के सभी सदस्यों का चुनाव होता था। और यह एक हद तक एक स्वायत्त संस्था थी। लेकिन सरकार को इसकी स्वायत्तता भंग करनी थी, तो अब नया आयोग बना दिया गया है। इसमें लोकतांत्रिक प्रक्रिया को पूरी तरह से किनारे कर दिया गया और अब सरकार आयोग में अपने ख़ास लोगों को बिठाने की बात कर रही है। इन ख़ास लोगों में भी डॉक्टरों की बजाय ब्यूरोक्रेट बहुमत में रहेंगे। ऐसे में भ्रष्टाचार मिटाने का सरकारी दावा बिल्कुल खोखला सिद्ध हो रहा है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुने लोगों की बजाय मनोनीत लोग किस तरह से भ्रष्टाचार को ख़त्म करेंगे, यह किसी भी तार्किक इंसान की समझ से परे है। दूसरा यह कि मेडिकल शिक्षा के फ़ैसले नॉन-मेडिकल अधिकारी लें, तो वही बात हुई कि इकॉनोमी से जुड़े हुए फ़ैसले ग़ैर-इकॉनोमिक पृष्ठभूमि के लोग लें। और इकॉनोमी के स्तर पर हमारे देश में बिल्कुल यही हो रहा है और देश की अर्थव्यवस्था बैठती जा रही है। मेडिकल शिक्षा का भी यही हाल करने की तैयारी है। वो भी बिल्कुल अलोकतांत्रिक तरीक़े से।

दूसरी बात है प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों की फ़ीस के नियंत्रण की। इस बिल के तहत प्राइवेट कॉलेजों की 50 प्रतिशत सीटों की फ़ीस नियंत्रण से बाहर रहेगी। पहली बात तो यह है कि छात्रों को मेडिकल शिक्षा सहित हर तरह की शिक्षा नि:शुल्क उपलब्ध करवाना सरकार की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए। लेकिन हक़ीक़त इसके बिल्कुल उलट है। एमसीआई और स्वास्थ्य विभाग ने अपने गठन के शुरू से मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का ढाँचा खड़ा करते हुए शहरी ग़रीब और ग्रामीण आबादी की अनदेखी की थी। लेकिन फिर भी बहुत थोड़ी हद तक ही सही, लोगों को सरकार की तरफ़ से स्वास्थ्य सेवाएँ और छात्रों को मेडिकल शिक्षा मिल जाती थी। लेकिन यह ऊँट के मुँह में जीरे के समान था। 1980 के दशक तक भारत में 110 सरकारी और 11 प्राइवेट मेडिकल कॉलेज थे। उसके बाद आया उदारीकरण और भूमण्डलीकरण का दौर। हर क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र में भी निजीकरण बड़े पैमाने से शुरू हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि 2018 तक प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों की संख्या सरकारी मेडिकल कॉलेजों से कहीं ज़्यादा हो गयी। ऐसा नहीं है कि सरकारी कॉलेजों की संख्या नहीं बढ़ी, लेकिन प्राइवेट कॉलेजों की संख्या तो बेहताशा बढ़ी। इन कॉलेजों में नियंत्रण के बावजूद पहले से ही 13-14 लाख रुपये सालाना वसूल किये जा रहे हैं, 50 प्रतिशत सीटों पर नियंत्रण ख़त्म होने के बाद स्थिति क्या होगी, समझा जा सकता है। आम छात्र को तो यह सपने में भी नहीं मिल सकती। ऊपर से सरकार का दावा यह है कि इससे मेडिकल शिक्षा सबकी पहुँच में हो जायेगी। कैसे? किसी को भी नहीं पता।

तीसरी चीज़ जो इस बिल में सरकार ने की है, वह एग्जिट टेस्ट की है। इसके अनुसार एमबीबीएस की फ़ाइनल परीक्षा का परिणाम और मेरिट ही प्रैक्टिस के लिए लाइसेंस और पीजी कोर्स में दाख़िले का आधार होगा। अब जबकि प्राइवेट कॉलेजों को इतनी छूट दी जा रही है तो ज़ाहिर है कि इन कॉलेजों के जो छात्र कॉलेज मैनेजमेण्ट को ज़्यादा पैसे दे सकेंगे, उनको फ़ाइनल परीक्षा में अंक भी ज़्यादा दे दिये जायेंगे। प्राइवेट डीम्ड विश्वविद्यालयों में तो पूरा परिणाम ही इनके हाथ में होता है। ऐसे में पीजी कोर्स में दाख़िले की धाँधली जो अब चोरी-छिपे होती है, फिर बिल्कुल ही खुली हो जायेगी।

चौथी चीज़ प्राइवेट मेडिकल कॉलेज अपनी मर्ज़ी से 250 तक सीटें बिना किसी निरीक्षण के बढ़ा सकेंगे और पीजी कोर्स शुरू कर सकेंगे। अब जबकि न तो निरीक्षण की ज़रूरत है और न ही इन्फ्रास्ट्रक्चर की, तो कॉलेज प्रशासन को क्या पड़ी है सीटें बढ़ाने और पीजी कोर्स शुरू करने के लिए अतिरिक्त फैकल्टी रखने की और इन्फ्रास्ट्रक्चर के मानक पूरे करने की? ज़ाहिर है इससे एक ही पार्टी का फ़ायदा होगा। कॉलेज मालिकों का। उन्हें तो बढ़ी हुई सीटों पर बढ़ी हुई फ़ीस

(पेज 12 पर जारी)

सैंया भये दोबारा कोतवाल, अब डर काहे का!

– वृषाली

उन्नाव बलात्कार काण्ड और फिर युवती के परिजनों की सुनियोजित हत्याओं ने एक बार फिर यह साबित किया है कि भाजपा का 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' का नारा भी कोरा जुमला है! बलात्कार के अपराधी भाजपाई विधायक कुलदीप सिंह सेंगर को लम्बे समय तक बचाया जाना, स्थानीय भाजपाई सांसद साक्षी महाराज का जेल में धन्यवाद ज्ञापित करने पहुँच जाना, लड़की के पिता की पुलिस हिरासत में मौत, घरवालों को धमकियाँ, चाचा को बरसों पुराने केस में जेल में डालना और अन्त में युवती व उसके परिजनों तथा वकील पर ट्रक चढ़ा देना साबित करते हैं कि देश में जंगल राज चल रहा है, जहाँ भाजपाइयों के अपराधों को अपराध ही नहीं समझा जाता!

चन्द दिन के अन्दर बलात्कारियों को फाँसी देने के मोदी के जुमले का भाजपा ने अपने गुर्गों से प्रचार तो ख़ूब कराया है, लेकिन सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि ख़ुद भाजपा विधायक कुलदीप सिंह सेंगर के ऊपर लगे बलात्कार के आरोप का मामला 2017 से चल रहा है। यही नहीं, पीड़िता को केस दर्ज करवाने मात्र के लिए मुख्यमंत्री आवास के सामने आत्मदाह की कोशिश करनी पड़ी। बलात्कारी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का सबक़ अगले ही कुछ दिनों में पीड़िता के बाप को पुलिस हिरासत में अपनी जान गँवा देने के रूप में मिला। हल्ला-हंगामे के बाद विधायक पर केस तो दर्ज हो गया लेकिन विधायक ठहरे पुराने खिलाड़ी, इतनी आसानी से कहाँ मानते। लड़की के चाचा को 19 साल पुराने केस में सज़ा हुई और परिवार को जान से मारने की धमकियाँ मिलती रहीं। 28 जुलाई 2019 में आख़िरकार बलात्कार पीड़िता की गाड़ी को ट्रक से कुचल दिया गया, जिस घटना में उसकी दो रिश्तेदार महिलाओं की मौत हो गयी और रिपोर्ट लिखे जाने तक पीड़िता और उसके वकील की हालत नाज़ुक बनी हुई थी। दुर्घटना का षड्यन्त्र साफ़ तौर पर बलात्कारी विधायक की ओर इशारा कर रहा था, लेकिन बेशर्मी के सारे रिकॉर्ड तोड़ते हुए भाजपा के कई कार्यकर्ता ख़रीदी गयी भीड़ के साथ सड़कों पर उतरकर अपराधी विधायक के समर्थन में नारे लगाने में लगे। पूरी घटना में भाजपा की महिला बाल विकास मन्त्री से लेकर सभी "ओजस्वी-तेजस्वी" मुँह में दही जमाकर बैठे रहे। इससे यही पता चलता है कि इस 'रामराज्य में भाजपाई हिंसा, हिंसा न भवति!'

मामले को सुप्रीम कोर्ट भेजे जाने के बाद केस की अदालती कार्यवाही में तेज़ी आयी है और सीबीआई ने अपराधी के ख़िलाफ़ कई अहम सुराग पेश किये हैं। पर कौन जानता है कि आने वाले समय में जेल से बाहर आकर ये श्रीमान भी लोकतन्त्र के तथाकथित मन्दिर में विराजमान मिलें!

शुचिता-संस्कार और संस्कृति का ढिंढोरा पीटने वालों ने इस देश में जितना गन्द मचा रखा है, वह सबके सामने है। हाल ही में संघ और भाजपा नेताओं-नेत्रियों के बहुत सारे अश्लील वीडियो वायरल हुए हैं। संस्कार की चिलमन के पीछे बेशुमार सड़ाँध ठाठे मार रही है। भाजपा विधायकों पर कर्नाटक विधानसभा में अश्लील वीडियो देखने से लेकर इनके सरगना तक पर लड़की का पीछा करने के आरोप लगे थे। हाल में ही कश्मीर में अनुच्छेद 370 हटाये जाने के बाद कश्मीरी महिलाओं पर घटिया बयान देने वाले तीन तलाक़ पर मुस्लिम महिलाओं की मुक्ति पर डींगें हाँक रहे हैं!

पिछले कुछ समय से भाजपा एक ऐसी पार्टी के रूप में उभरी है जिसमें सभी पार्टियों के गुण्डे, मवाली, हत्यारे और बलात्कारी आकर शरण प्राप्त कर रहे हैं। इस देश के प्रधान सेवक उर्फ़ चौकीदार ने हाल ही में सीना फुलाते हुए कहा था कि कमल का फूल पूरे देश में फैल रहा है, लेकिन वे यह बताना भूल गये कि दरअसल यह फूल औरतों, दलितों, अल्पसंख्यकों और मज़दूरों के ख़ून से सींचा जा रहा है। एक तरफ़ भयंकर बेरोज़गारी और दूसरी तरफ़ ऐसी घटनाएँ दिखाती हैं कि पूरे देश में फ़ासीवाद का अँधेरा गहराता जा रहा है। गो-रक्षा, लव-जिहाद, 'भारत माता की जय', राम मन्दिर की फ़ासीवादी राजनीति सिर्फ़ और सिर्फ़ आम जनता को बाँटने और आपस में लड़ाने के लिए खेली जाती है। भारत माता की रक्षा करने का दम्भ भरते हुए ये फ़ासीवादी उन्माद मचाते हुए देश की असली माताओं-बहनों के साथ कुकर्म कर रहे हैं। उनके देश की परिभाषा बस काग़ज़ पर बना एक नक़्शा है। बढ़ते निरंकुश स्त्री-विरोधी अपराधों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि संघियों की देश की परिभाषा में महिलाओं के लिए स्थान सिर्फ़ और सिर्फ़ एक भोग्य वस्तु का है। पूँजीवादी व्यवस्था और पितृसत्ता के चलते हमारा समाज जिस स्त्री-विरोधी मानसिकता से ग्रसित है उसके कारण फ़ासीवाद के इस दौर में स्त्रियों पर हमले और भी बर्बर, और भी निर्मम होते जा रहे हैं।

जनता को इस ख़ुशफ़हमी में रहने की ज़रूरत नहीं कि हम तो बचे हुए हैं। सुरक्षित कोई नहीं है और शिकार कोई भी बन सकता है, इसलिए चाक-चौबन्द रहने की आवश्यकता है। पूरे देश में उठे विरोध के स्वर के बाद ही उन्नाव के बलात्कारी के ख़िलाफ़ कार्यवाही आगे बढ़ी है। न केवल व्यापक एकजुटता बल्कि स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर सही समझदारी के दम पर हम सत्ता में पहुँच रखने वाले हैवानों से टकरा सकते हैं। रहे-सहे क़ानूनी अधिकारों की भी एकजुट संघर्ष के बूते ही हिफ़ाज़त सम्भव है।

एनएमसी विधेयक : मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर फ़ासीवाद की मार

(पेज 11 से आगे)

मिलेगी। जबकि छात्रों को मिलने वाली शिक्षा की गुणवत्ता जाये भाड़ में इनकी बला से। यही बात मान्यता रद्द करने की प्रणाली ख़त्म करने पर भी लागू होती है।

आख़िरी बात जो सीधे लोगों के स्वास्थ्य से जुड़ी हुई है, वो ये कि पैरामेडिकल पृष्ठभूमि के छात्रों को 6 महीने का कोर्स करवाकर सामुदायिक व प्राथमिक स्वास्थ्य स्तर पर कम्युनिटी हेल्थ प्रोवाइडर बना दिया जाये। सरकार का तर्क यह है कि ऐसा चीन ने भी सफलतापूर्वक किया है। शायद सरकार चीन के बेयरफुट डॉक्टर प्रोग्राम का हवाला दे रही है। क्रान्ति के बाद चीन में बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव था और ग्रामीण इलाक़ों में तो यह बिल्कुल ही नगण्य था। ऐसे में चीनी सरकार ने गाँव के चुने हुए किसानों को स्वास्थ्य की न्यूनतम ट्रेनिंग देकर गाँवों के लोगों के स्वास्थ्य की देखभाल का काम सौंपा था। लेकिन उस समय चीन का पूरा स्वास्थ्य ढाँचा समाजवादी था। और देश में डॉक्टरों की भारी कमी थी। जबकि भारत में एक तरफ़ तो स्वास्थ्य सेवाओं और मेडिकल शिक्षा का निजीकरण लगातार बढ़ता जा रहा है। धड़ल्ले से प्राइवेट मेडिकल कॉलेज खुल रहे हैं, जो छात्रों से बेहताशा फ़ीस वसूल रहे हैं। कुकरमुत्तों की तरह प्राइवेट और कॉरपोरेट अस्पताल खुल रहे हैं जो धड़ल्ले से मरीज़ों को लूट रहे हैं, ऐसे में सरकार सरकारी मेडिकल कॉलेजों और अस्पतालों की संख्या और सीटें बढ़ाने की बजाय इस तरह के जुमले फेंक रही है, मानो उसे लोगों के स्वास्थ्य की बहुत चिन्ता है। रोगों से बचाव और सफ़ाई से सम्बन्धित शिक्षा देकर स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार करने में हर्ज़ नहीं है, लेकिन सरकारी स्वास्थ्य तंत्र पर ध्यान न देकर निजीकरण को बढ़ावा देने की सरकारी हरकतों से तो ईमानदारी पर सन्देह होना लाजमी है। दूसरी बात ये कि स्वास्थ्य कर्मी रोगों से बचाव के लिए लोगों को बता सकते हैं, स्वास्थ्य शिक्षा दे सकते हैं, लेकिन 6 महीने का कोर्स किया हुआ स्वास्थ्यकर्मी एक क्वालिफ़ाइड डॉक्टर का स्थान नहीं ले सकता। चीन ने तो अपने स्वास्थ्य तंत्र को दुनिया में सबसे बेहतरीन में से एक बनाया था, बेयरफुट डॉक्टरों के साथ-साथ क्वालिफ़ाइड डॉक्टरों की पूरी फ़ौज तैयार की थी। वहाँ तो पूरा मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य का ढाँचा समाजवादी था। समाजवाद के ख़ात्मे के बाद वहाँ की हालत भी बिगड़ती ही चली गयी और आज पूँजीवादी चीन उस दौर की तमाम उपलब्धियों को गँवा चुका है।

ख़ैर यह तो है कि सरकार को लोगों के स्वास्थ्य या रेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता या भ्रष्टाचार से मतलब नहीं है। सरकार को सिर्फ़ पूँजीपतियों को मुनाफ़ा पहुँचाने से मतलब है। हम यह नहीं कहते कि एमसीआई कोई दूध की धुली संस्था थी। यह एक भ्रष्ट संस्था थी जिसने मेडिकल शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य को बहुत नुक़सान पहुँचाया था। लेकिन इसको ख़त्म करके भी सरकार ने पहले से ख़राब प्रणाली को और ज़्यादा ख़राब करने का ही काम किया है। हो भी क्यों न? सरकार को जनता से क्या मतलब? इसे मतलब है तो बस प्राइवेट और कॉर्पोरेट सेक्टर को मुनाफ़ा पहुँचाने से। बाक़ी **बात सिर्फ़ एक सरकार की नहीं है। बात पूरी पूँजीवादी व्यवस्था की है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी, न तो मेडिकल शिक्षा का सुधार होने वाला है और न ही सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं का। होगा तो सिर्फ़ यह कि पूँजीपतियों के मुनाफ़े की दर सुधरती जायेगी और जनता के स्वास्थ्य की दर गिरती जायेगी।**

पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बचाने के लिए संकट का सारा बोझ मेहनतकशों की टूटी कमर पर

(पेज 16 से आगे)

दोनों वजहों से एक ओर तो कारोबार में पूँजी का विस्तार कम हो रहा है, दूसरी ओर उसे चलाते रहने हेतु नक़द पूँजी की आवश्यकता बढ़ रही है। ख़ुद मुकेश अम्बानी की रिलायंस इण्डस्ट्रीज का खाता बता रहा है कि निरन्तर नया क़र्ज़ लेकर उसकी बही तो मोटी हो रही है, ग्राहक भी बढ़ रहे हैं, खातों में संख्याएँ भी बड़ी हो रही है, पर उसके परिचालन से ठोस नगद लाभ उतनी मात्रा में नहीं हो रहा। ब्लूमबर्ग के विश्लेषण के अनुसार पिछले वित्तीय वर्ष में रिलायंस द्वारा मुक्त नक़दी सृजन पिछले साल 11 वर्षों में सबसे कम हुआ है जबकि उसका ऋण बढ़कर तीन लाख करोड़ रुपये पार कर गया है!

ऐसे में पूँजीपतियों की सबसे बड़ी उम्मीद ब्याज़ दर गिरना और केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंकों को क़र्ज़ देने के लिए प्रोत्साहित करना थी। रिज़र्व बैंक ब्याज़ दर 4 बार गिरा भी चुका है। पर सरकार, उद्योगों और परिवारों तीनों द्वारा लिये गये भारी क़र्ज़ों व आगे और माँग और उनमें बड़ी मात्रा में होने वाले एनपीए की वजह से बैंक भी अधिक क़र्ज़ देने की स्थिति में नहीं हैं। इसलिए भी सरकार द्वारा सम्प्रभु बॉण्ड जारी कर विदेश से क़र्ज़ लेने की योजना बनायी गयी है। इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक निजी कम्पनियों को भी विदेशी मुद्रा में अधिक ऋण लेने की अनुमति दे रहा है जिससे घरेलू बाज़ार में ऋण की माँग का दबाव कम हो तथा ब्याज़ दरें और भी नीचे आयें।

किन्तु आर्थिक संकट से निपटने के लिए सरकार ब्याज़ दर कम और नक़दी प्रवाह अधिक करने की जिस नीति पर चल रही है, उससे पूँजी निवेश बढ़ना और आर्थिक संकट हल होना मुमकिन नहीं। उसकी असफलता का एक बड़ा उदाहरण मारुति का वह फ़ैसला है जिसके अनुसार उसने गुजरात के अपने कारख़ाने की क्षमता 7.5 लाख कार सालाना से दुगना अर्थात 15 लाख कार सालाना करने की योजना रद्द कर दी है। उसे अब कारों की बिक्री में निकट भविष्य में उतनी वृद्धि की सम्भावना नज़र नहीं आती। ऐसे में तो वह शून्य प्रतिशत ब्याज़ पर निवेश करके भी नुक़सान में रहेगी। इसके बजाय उसकी योजना है कि भविष्य में बिक्री बढ़ी भी तो वह टोयोटा के साथ मिलकर उसके बैंगलोर कारख़ाने का इस्तेमाल करेगी जिसकी क्षमता का अभी पूरा प्रयोग नहीं हो पा रहा है। जड़ पूँजी में निवेश बढ़ाये बग़ैर ही चालू पूँजी के बेहतर प्रयोग और मितव्ययता बढ़ाने से दोनों को लाभ होगा। फिर वे नया निवेश क्यों करें? पहले भी गुजरात सरकार ने टाटा मोटर को सानंद में रियायती ज़मीन और 0% ब्याज़ पर पूँजी दी थी, जिसके साथ मुनाफ़े पर टैक्स छूट भी दी गयी थी। टाटा ने उसका लाभ लिया और कारख़ाना बाद में बन्द भी कर दिया। अन्य उद्योगों में भी यही हो रहा है। निवेश की योजनाएँ धड़ल्ले से रद्द की जा रही हैं।

फिर सरकार के सामने उपाय क्या है? वित्त मंत्री निर्मला सीतारामन के अनुसार, "यह सही वक़्त है कि भारत वैश्विक माल एवं सेवा उत्पादन श्रृंखला में ही एकीकृत नहीं हो, बल्कि वैश्विक वित्तीय व्यवस्था का भी अंग बन जाये ताकि वह वैश्विक बचत को उपयोग के लिए जुटा सके, जो पेंशन, बीमा एवं सार्वभौम पूँजीकोषों में संस्थाबद्ध है।" अर्थात एक ही उपाय बचा है, विश्व वित्तीय पूँजी बाज़ार के साथ एकीकृत हो जाओ, सॉवरेन बॉण्ड जारी करो, विदेशी मुद्रा में सस्ती ब्याज़ दर पर ख़ूब क़र्ज़ लेकर कुछ बड़ी परियोजनाएँ बनाओ – बुलेट, मेट्रो, स्पेस, हाईवे, नदी जोड़ो, आदि चमकदार, धाँसू 'राष्ट्रीय गौरव' वाली। 5-7 साल तो ख़ूब जलवा रहेगा। बाद में इनसे लाभ न हो, रुपये की विनिमय दर गिरने से क़र्ज़ सस्ते के बजाय उलटे महँगा पड़े, क़र्ज़ की वजह से हालत लैटिन अमेरिकी या पूर्वी एशियाई देशों या यूनान-पुर्तगाल वाली हो ही जाये तो क्या? इस सबका बोझ उठाने के लिए मेहनतकश जनता तो है ही, उस पर शोषण का चक्र और कस देंगे।

पूँजीवादी संकट गम्भीर होने के साथ ही दुनिया-भर में दक्षिणपंथ का उभार तेज़

– शिशिर

फासीवाद कुछ व्यक्तियों या किसी पार्टी की सनक नहीं है। यह पूँजीवाद के लाइलाज रोग से पैदा होने वाला ऐसा कीड़ा है जिसे पूँजीवाद ख़ुद अपने संकट को टालने के लिए बढ़ावा देता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था अन्दर से सड़ चुकी है, और इसी सड़ाँध से पूरी दुनिया के पूँजीवादी समाजों में हिटलर-मुसोलिनी के वे वारिस पैदा हो रहे हैं, जिन्हें फासिस्ट कहा जाता है। फासिस्ट पूँजीवादी लोकतंत्र को भी नहीं मानते और उसे पूरी तरह रस्मी बना देते हैं और वास्तव में पूँजी की नंगी, खुली तानाशाही कायम कर देते हैं। फासिस्ट धर्म या नस्ल के आधार पर आम जनता को बाँट देते हैं, वे नक़ली राष्ट्रभक्ति के उन्मादी जुनून में हक़ की लड़ाई की हर आवाज़ को दबा देते हैं। वे धार्मिक या नस्ली अल्पसंख्यकों को निशाना बनाकर एक नक़ली लड़ाई खड़ी करके असली लड़ाई को पीछे कर देते हैं और पूरे देश में दंगों और ख़ून-खराबों का विनाशकारी खेल शुरू कर देते हैं। पूँजीपति वर्ग अपने संकटों से निजात पाने के लिए फासीवाद को बढ़ावा देता है और ज़ंजीर से बँधे शिकारी कुत्ते की तरह जनता को डराने के लिए उसका इस्तेमाल करना चाहता है, लेकिन जब-तब यह कुत्ता अपनी ज़ंजीर छुड़ा भी लेता है और तब समाज में भयंकर ख़ूनी उत्पात मचाता है।

नवउदारवाद के इस दौर में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट जैसे-जैसे गम्भीर होता जा रहा है, वैसे-वैसे दुनियाभर में फासीवादी उभार का एक नया दौर दिखायी दे रहा है। पूरी दुनिया में पूँजीवादी व्यवस्था लम्बे समय से संकट में फँसी हुई और उबरने के तमाम उपाय करने के बावजूद इसका संकट पहले से भी ज़्यादा गम्भीर होता जा रहा है। ऐसे में अपने मुनाफ़े की दर को कम होते जाने से बचाने के लिए दुनियाभर के पूँजीपति अपने देश के मज़दूरों और आम जनता के शोषण को बढ़ाते जा रहे हैं। जिन देशों में आम लोगों को पहले से कुछ बेहतर सुविधाएँ मिली हुई थीं वहाँ भी अब वे सुविधाएँ छीनी जा रही हैं। इस बढ़ते शोषण के ख़िलाफ़ लोग सड़कों पर उतर रहे हैं। ऐसे में हर जगह के पूँजीपति अपने आख़िरी हथियार – फ़ासीवाद को निकालने पर मजबूर हो रहे हैं। कहीं यह एकदम नंगे रूप में सामने आ चुका है तो कहीं इसने अभी नग्न फ़ासीवाद की शक़्ल नहीं ली है मगर उग्र दक्षिणपंथी ताक़तों के उभार के रूप में सामने आया है।

नरेन्द्र मोदी का सत्ता में आना पूरी दुनिया में चल रहे सिलसिले की ही एक कड़ी है। ब्राज़ील में जैर बोल्सोनारो की 'सोशल लिबरल पार्टी', तुर्की में एर्दोगान की 'जस्टिस एंड डेवलपमेंट पार्टी' और फिलिप्पीन्स में दुतेर्ते की 'पीडीपी-लबान' जैसी अर्द्ध-फ़ासिस्ट पार्टियाँ सत्ता में हैं। ग्रीस, स्पेन, इटली, फ्रांस, उक्रेन, जैसे यूरोप के कई देशों में फासिस्ट किस्म की धुर दक्षिणपंथी पार्टियों की ताक़त बढ़ रही है। नव-नाज़ी ग्रुपों का उत्पात इंग्लैण्ड, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, स्वीडन, पोलैंड, हंगरी, बल्गारिया, फ़िनलैण्ड, ऑस्ट्रिया और स्विट्ज़रलैण्ड जैसे देशों में भी तेज़ हो रहा है। इंडोनेशिया जैसे देशों में पहले से निरंकुश सत्ताएँ क़ायम हैं जो पूँजीपतियों के हित में जनता का कठोरता से दमन कर रही हैं। अमेरिका में ट्रम्प के नेतृत्व में एक धुर दक्षिणपंथी सत्ता क़ायम है। हाल के वर्षों में कई जगह ऐसी ताकतें सीधे या फिर दूसरी बुर्जुआ पार्टियों के साथ गठबन्धन में शामिल होकर सत्ता में आ चुकी हैं। जहाँ वे सत्ता में नहीं हैं, वहाँ भी बुर्जुआ जनवाद और फासीवाद के बीच की विभाजक रेखा धूमिल-सी पड़ती जा रही है और सड़कों पर फासीवादी उत्पात बढ़ता जा रहा है।

इटली के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी अन्तोनियो ग्राम्शी ने कहा था : "संकट ठीक इसी बात में निहित होता है कि पुराना मर रहा है, लेकिन नये का जन्म नहीं हो पा रहा है; इस अन्तराल में ढेरों प्रकार के रुग्ण लक्षण प्रकट होते हैं।" आज की दुनिया भी ठीक एक ऐसे ही दौर से गुज़र रही है। मरणासन्न पूँजीवाद अब इस दुनिया को कोई भी प्रगतिशील चीज़ नहीं दे सकता। एक समय था जब इतिहास की स्वाभाविक दिशा के अनुरूप विश्व-पटल पर पूँजीवाद के आविर्भाव के साथ ही सैकड़ों सालों तक चले मध्ययुगीन अँधेरे का ख़ात्मा हुआ। चिकित्सा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई और हज़ारों-हज़ार लोगों को लील जाने वाली बहुत-सी बीमारियाँ इतिहास के कूड़ेदान में चली गयीं। ज़बरदस्त औद्योगिक विकास हुआ। यातायात और संचार के साधनों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण हुआ। जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी ग़रीबी में जीवनयापन करने को मजबूर था, पर यह ग़रीबी भी सामन्तवादी दौर की बर्बर व्यवस्था में जीने से कहीं बेहतर थी।

राजनीतिक-सांस्कृतिक स्तर पर स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के विचारों का विचारधारात्मक प्रभुत्व स्थापित हुआ। परलोक केन्द्रित समाज की बजाय इहलोक केन्द्रित समाज बना। आम जनता को संवैधानिक अधिकार मिले। लेकिन, यहाँ पर ग़ौर करने वाली बात है कि ये सारी चीज़ें मुख्यतः और मूलतः इतिहास की स्वाभाविक गति का परिणाम थीं, न कि उभरते हुए शासक वर्ग यानी बुर्जुआजी ने इन्हें अपनी भलमनसाहत से दे दिया था। बल्कि, बुर्जुआ वर्ग ने ख़ुद को सत्ता में स्थापित करने के लिए और पूँजीवादी विकास की पैरों की बेड़ियाँ बन चुके सामन्तवाद को निर्णायक रूप से पराजित करने के लिए, पहले तो सर्वहारा वर्ग की मदद ली। लेकिन, सत्ता में आने के बाद उसने सर्वहारा वर्गों के साथ ग़द्दारी करने में ज़रा भी देर नहीं की। चाहे वह पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति के क्लासिकीय रास्ते से आने वाले पूँजीवाद की बात हो, या उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष की – हर बार बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा वर्ग को धोखा दिया। और ऐसा ही होना भी था। पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग दो सबसे ज़्यादा ध्रुवीकृत वर्ग होते हैं। इन दोनों के हित समान नहीं हो सकते, क्योंकि मज़दूरों का शोषण किये बिना मालिक वर्ग का मुनाफ़ा मुमकिन ही नहीं है।

1970 के दशक का अन्त होते-होते पूरी दुनिया के शासक वर्ग को समझ में आ गया था कि पूँजीवाद की उम्र लम्बी करने के लिए कीन्सियाई तौर-तरीक़े अब नाकाफ़ी हो चुके थे। इसके उपाय में शासक वर्गों ने जो नीतियाँ अपनायीं उन्हें उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों के रूप में जाना जाता है। इसके तहत, उत्पादन के अधिक से अधिक कामों को निजीकृत करना, कल्याणकारी कार्यों के लिए सरकारी ख़र्चों में कटौती करना, अविनियमन, मुक्त बाज़ार इत्यादि की नीतियाँ अपनायी गयीं। कुल जमाजोड़ यह कि ज़्यादा से ज़्यादा चीज़ों को निजी क्षेत्र के लिए मुनाफ़े का स्रोत बनाया जाये। साम्राज्यवादी देशों के प्रतिनिधि विश्व व्यापार संगठन ने वित्तीय दबाव बनाकर थोड़े समय में ही पूरी दुनिया को विदेशी निवेशी के लिए अपनी सीमाएँ खोलने को मजबूर कर दिया। निजी पूँजी के समाज के पोर-पोर में पहुँचने का नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो इसने अल्पसंख्या में मध्यम-वर्ग के रूप में पूँजीवाद के समर्थक पैदा किये। दूसरी ओर, बड़े पैमाने पर लोगों को ग़रीबी में झोंका। अमीर-ग़रीब की खाई में बेइन्तहाँ इज़ाफ़ा हुआ। इस साल आयी ऑक्सफ़ैम की रिपोर्ट के मुताबिक़, दुनिया के 26 सबसे अमीर लोग दुनिया की 50% सम्पत्ति के मालिक हैं। शिक्षा और अस्पताल जैसी चीज़ें ख़रीद-फ़रोख़्त की चीज़ें बन गयीं। बड़े पैमाने पर टटपुँजिया उत्पादन को तबाह कर पेटी-बुर्जुआ के एक बड़े हिस्से को सर्वहारा की कतारों में भेजा। भारत में कृषि में इसका प्रभाव ख़ास तौर पर दिखा और सीमान्त और छोटे किसान लगातार बर्बाद होने लगे। पेंशन और बीमा जैसी सामाजिक सुरक्षाओं से राज्य पीछे हट गया और उसे निजी हाथों में दे दिया गया। पर इतना सबकुछ करने के बाद भी पूँजीवाद 1970 के दशक के अन्त में शुरू हुए संकट से आज तक नहीं उबर पाया है। पूरी दुनिया के स्तर पर, सालों से विनिर्माण के क्षेत्र में वृद्धि लगभग ठप चल रही है और अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा वित्तीय सट्टेबाज़ी पर आधारित हो गया है। बीमा बेचने, लोन देने, शेयर की ख़रीद-फ़रोख़्त इत्यादि पर आधारित वित्तीय अर्थव्यवस्था एक अनुत्पादक अर्थव्यवस्था है जिसमें स्वाभाविक ही रोज़गार के अवसर बहुत कम होते हैं। ऐसे में, जगह-जगह सत्ता में मौजूद उदारवादी या सामाजिक-जनवादी ताक़तें बेनकाब होने लगीं और जनता में उनके प्रति रोष बढ़ता गया। भारतीय कांग्रेस पार्टी के प्रति लोगों का ग़ुस्सा इसी की एक बानगी है।

क्रान्तिकारी विकल्पहीनता के चलते, जनता के इस ग़ुस्से को भुनाया धुर-दक्षिणपंथी पार्टियों ने। हालाँकि, अलग-अलग देशों के इतिहास की अलग-अलग विशेषताओं की वजह से हर जगह दक्षिणपंथ के उभार की कई स्थानीय वजहें भी हैं। पर कुछ चीज़ें एक जैसी हैं। ये सभी पार्टियाँ अपने शब्दाडम्बरों में नव-उदारवादी नीतियों का विरोध करती हैं, कल्याणकारी कार्यों से सम्बन्धित तमाम लोकरंजकतावादी जुमले फेंकती हैं और ये जनता के ही किसी एक हिस्से को दूसरे हिस्से का दुश्मन बताती हैं और इस तरह नस्ली/मज़हबी/जातीय/राष्ट्रीय आधार पर नफ़रत फैलाती हैं। बर्बादी की कगार पर खड़े टटपुँजिया वर्ग को ये बातें सबसे ज़्यादा लुभाती हैं और यही वर्ग इन पार्टियों का सबसे मुख्य आधार होता है। दूसरी ओर, सुषुप्त वर्ग-चेतना के चलते मज़दूरों का एक हिस्सा भी इनके प्रभाव में आ जाता है। सत्ता में आने पर ये पार्टियाँ दिखाने के लिए एक-दो लोकरंजकतावादी कामों को अंज़ाम देती हैं और उनकी आड़ में घोर मज़दूर-विरोधी नीतियाँ लागू करती हैं और किसी भी तरह के विरोध को – ख़ासकर मज़दूर आन्दोलनों को बेरहमी से कुचलने का काम करती हैं।

इसका सबसे बड़ा उदाहरण है भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पार्टी आरएसएस और भाजपा का सत्ता में आना। भाजपा कश्मीरियों, मुसलमानों, ईसाइयों, बांग्लादेशियों, प्रवासियों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाकर सत्ता में आती हैं, सत्ता में होने पर घोर वेतन संहिता अधिनियम 2019 जैसे मज़दूर-विरोधी क़ानून बनाती हैं और पूँजीपतियों की जमकर चाकरी करती हैं। पूँजीपतियों को ऐसी ही पार्टी चाहिए जो आम जनता की क़ीमत पर वित्तीय क्षेत्र को फ़ायदा पहुँचाने और जनता का पैसा पूँजीपतियों के हाथों में डालने के लिए नोटबन्दी जैसे काले कारनामों को अंज़ाम दे सके। इसके अलावा, अमेरिका में 2016 में राष्ट्रपति चुनाव जीतने वाले डॉनल्ड ट्रम्प के पीछे कोई कैडर आधारित पार्टी तो नहीं काम करती, लेकिन, ख़ुद ट्रम्प में कई फ़ासीवादी रुझान मौजूद हैं। ट्रम्प भी बेरोज़गारी के लिए मेक्सिको और अन्य देशों से आकर अमेरिका में काम करने वाले लोगों को ज़िम्मेदार ठहराता है, आतंकवाद के लिए मुसलामानों को ज़िम्मेदार ठहराता है और अमेरिका में अल्पसंख्या में मौजूद अफ़्रीकी मूल के लोगों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाता है। धुर-दक्षिणपंथी विक्टर ओर्बन 2010 से ही हंगरी का प्रधानमंत्री रहा है। जर्मनी में सितंबर 2017 के आम चुनावों में नव-नाज़ीवाद से जोड़ी जाने वाली पार्टी 'अल्टरनेट फ़ॉर जर्मनी' ने 630 में से 94 सीटें जीत लीं। इटली में धुर-दक्षिणपंथी पार्टी फाइव-स्टार मूवमेण्ट इस समय सत्ता की भागीदार है। फ्रांस में नेशनल फ्रण्ट पार्टी बेहद लोकप्रिय हो चुकी है।

कहा जा सकता है, पूरी दुनिया में उदारवादी बुर्जुआ लोकतंत्र से स्वाभाविक ही लोगों का भरोसा ख़त्म हो रहा है। उदारवादी पूँजीवाद ने दिखा दिया है कि वह जनता को बदहाली और झूठी दलीलों के अलावा और कुछ नहीं दे सकता। ऐसे में पूँजीपति वर्ग के पास धुर-दक्षिणपंथी या फ़ासिस्ट ताक़तों को अपनी मैनेजमेण्ट कमेटी के रूप में चुनने के अलावा और कोई चारा नहीं बचा है, क्योंकि दक्षिणपंथी या फ़ासिस्ट ताक़तों के सामाजिक आधार के चलते उनके लिए दमनकारी होना आसान हो जाता है। पर एक सच्चाई यह भी है कि ये दक्षिणपंथी ताक़तें जनता के असली मुद्दों को कभी नहीं हल कर सकतीं और इसलिए ऐसी पार्टियों के नेता भी कभी चैन से साँस नहीं ले पाते।

मज़दूर आन्दोलन में मज़दूर अख़बार की भूमिका की एक शानदार मिसाल

प्रसिद्ध पुस्तक **'ज़ार की दूमा में बोल्शेविकों का काम'** के कुछ हिस्सों की इस श्रृंखला में सातवीं कड़ी प्रस्तुत है। दूमा रूस की संसद को कहते थे। एक साधारण मज़दूर से दूमा में बोल्शेविक पार्टी के सदस्य बने **ए. बादायेव** द्वारा क़रीब 100 साल पहले लिखी इस किताब से आज भी बहुत–सी चीज़ें सीखी जा सकती हैं। बोल्शेविकों ने अपनी बात लोगों तक पहुँचाने और पूँजीवादी लोकतन्त्र की असलियत का भण्डाफोड़ करने के लिए संसद के मंच का किस तरह से इस्तेमाल किया इसे लेखक ने अपने अनुभवों के ज़रिए बख़ूबी दिखाया है। इस बार हम जो अंश प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें हम देख सकते हैं कि रूस में भयंकर दमनकारी परिस्थितियों के बीच मज़दूर आन्दोलन को संगठित और एकजुट करने में मज़दूर अख़बार ने कैसी शानदार भूमिका निभायी थी। आज भी मज़दूर आन्दोलन में काम कर रहे लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी है। उस वक़्त रूस में जारी मज़दूर संघर्षों का दिलचस्प वर्णन भी इसमें हमें मिलता है। इसे पढ़ते हुए पाठकों को लगेगा मानो इसमें जिन स्थितियों का वर्णन किया गया है वे हज़ारों मील दूर रूस में नहीं बल्कि हमारे आसपास की ही हैं। 'मज़दूर बिगुल' के लिए इस श्रृंखला को **सत्यम** ने तैयार किया है।

(सातवीं किश्त)

क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्राव्दा का स्थान

प्राव्दा ने युद्ध से पहले क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और, इसकी स्थापना के साथ ही, यह हमारे पार्टी कार्य के संचालन का प्रमुख माध्यम था। छपाई तथा वितरण से सम्बन्धित सम्पादक व कार्यकर्ता जनता को संगठित करने के काम में सीधे तौर पर जुड़ चुके थे। चाहे जितनी भी मुश्किलें आ जायें, प्रत्येक क्रान्तिकारी कार्यकर्ता उनका बोल्शेविक अख़बार हर रोज़ पाना और पढ़ना अपनी ज़िम्मेदारी समझता था। प्रत्येक कॉपी हाथो-हाथ बाँटी जाती और तमाम मज़दूरों द्वारा पढ़ी जाती थी। इस अख़बार ने उनकी वर्ग-चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की, उन्हें शिक्षित और संगठित किया।

मज़दूरों के बीच प्राव्दा की लोकप्रियता का विवरण इस तथ्य से मिल जाता है कि इसने निरन्तरता के साथ एक मज़बूत बोल्शेविक नीति का पालन किया और, अवसरवादी विसर्जनवादी अख़बार (लच तथा अन्य अख़बार) के तरीक़ों से अलग, इसने समस्याओं को हमेशा साधारण, सीधी-साधी भाषा में बताया। एक ओर जहाँ लच की वितरण संख्या कभी भी 16,000 कॉपियों से अधिक नहीं पहुँच सकी, वहीं प्राव्दा की वितरण संख्या एक दिन में 40,000 तक पहुँच गयी। मज़दूरों के बीच समर्थन की मात्रा में एक समरूप सम्बन्ध अख़बारों के बदले इकट्ठा की गयी राशि में देखा जा सकता था। प्राव्दा मज़दूरों के पैसे से शुरू किया गया और पूरी तरह मज़दूरों की सदस्यता द्वारा समर्थित था, मगर विसर्जनवादी अपना अख़बार मुख्य रूप से मेन्शेविकों के प्रति संवेदना ज़ाहिर करने वाले व्यक्तियों के बड़े चन्दों के बलबूते पर प्रकाशित करते थे। 1913 में प्राव्दा ने मज़दूरों के समूहों से कम से कम 2,180 सहयोग हासिल किये जबकि लच ने उस दौरान केवल 660 हासिल किये। अगले साल (मई तक) प्राव्दा ने 2,873 और लच ने 671 हासिल किये।

प्रत्येक राजनीतिक घटना, मज़दूर वर्ग की प्रत्येक लड़ाई के सम्बन्ध में मज़दूरों ने प्राव्दा को पत्र, संकल्प, और रिपोर्टें भेजीं। हम इन सभी सामग्री को अख़बार के चार पन्नों में प्रकाशित नहीं कर पाते थे, यहाँ तक कि इसके बड़े रूप में भी नहीं, और बहुत कुछ सेंसरशिप के कारणों से नहीं छापे जा सकते थे। मज़दूर ज़ारशाही और इसके ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी संघर्ष से जुड़ने के बारे में अपने विचारों को एकदम सीधे तौर पर व्यक्त करते थे और, जब सम्पादक जोखिम उठाने तथा ऐसे पत्राचार को प्रकाशित करने का फ़ैसला करते थे, अख़बार पर निरपवाद रूप से जुर्माना लगाया और ज़ब्त कर लिया जाता था। ऐसा होना इतनी आम बात हो चुका था कि मज़दूर इसके लिए अग्रिम निवेदन भेज दिया करते थे : "अगर अख़बार को ज़ब्त कर लिया जाता है तो कृपया हमारी ख़बर एक बार फिर अगले अंक में छाप दें।"

प्राव्दा सम्पादकीय कार्यालयों में कई आगन्तुकों के माध्यम से भी मज़दूरों के साथ अपना नज़दीकी सम्पर्क बनाये रखता था, जो सांगठनिक कार्यों के लिए एक प्रमुख केन्द्र बन गये। वहाँ स्थानीय पार्टी इकाइयों के प्रतिनिधियों के बीच बैठकें होती थीं। फ़ैक्टरियों व वर्कशॉपों से सूचना प्राप्त की जाती थी और फिर वहाँ से दिशानिर्देश दिये जाते तथा गुप्त बैठक-स्थलों की व्यवस्था वापस इलाक़ों में की जाती थी।

ज़ार की गुप्त पुलिस को यह अच्छे से मालूम था कि बोल्शेविक प्राव्दा राजसत्ता का बहुत ही ख़तरनाक दुश्मन था। हालाँकि, सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूरों के बढ़ते क्रान्तिकारी स्वभाव के कारण, प्राव्दा को कुचलने का फ़ैसला करने से दो साल पहले पुलिस हिचकिचाती रही। उन्होंने इसकी ताक़त को कम करने के लिए डिज़ाइन किये गये मामूली उत्पीड़न से इसे लगातार चिन्ता में डाले रखा। जब तक अख़बार का अस्तित्व बना रहा, प्रत्येक अंक एक संघर्ष के बाद निकलता था और प्रत्येक लेख एक लड़ाई के बाद। गिरफ़्तारियाँ, जुर्माने, ज़ब्तियाँ और छापे – पुलिस ने हमें आराम का कोई मौक़ा नहीं दिया।

प्राव्दा और दूमा धड़ा

पार्टी ने अपना अख़बार बहुत ही मुश्किल परिस्थिति में तैयार किया और केन्द्रीय कमेटी ने क्रान्तिकारी आन्दोलन में इसकी भूमिका के साथ काफ़ी ज़्यादा महत्व जोड़ दिया। इसके लिए ज़िम्मेदार कॉमरेडों के समूह को उनके मुश्किल काम में दूमा के बोल्शेविक हिस्से द्वारा सहायता दी जाती थी। प्राव्दा और इस हिस्से ने हाथ से हाथ मिलाकर काम किया और इस अख़बार की मदद से ही यह हिस्सा पार्टी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन द्वारा दिये गये काम कर पाता था। हमने दूमा व्याख्यान-मंच का इस्तेमाल विभिन्न पृष्ठभूमि के सांसदों के सिर के ऊपर से जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए किया। लेकिन यह हमारे मज़दूरों के छापेख़ाने के अस्तित्व द्वारा ही हो सका, क्योंकि तथाकथित उदारवादी अख़बारों ने हमारे भाषणों को बस कुछ ही लाइनों की जगह दी और कभी-कभी उन पर चुप्पी साध ली। अगर मज़दूरों का बोल्शेविक अख़बार नहीं होता, तो हमारे भाषण टौरिडा पैलेस की दीवारों के बाहर नहीं जाने जा सकते थे।

हमें प्राव्दा से केवल यही एक सहायता नहीं मिलती थी। सम्पादकीय कार्यालय में हम सेण्ट पीटर्सबर्ग फ़ैक्टरी और कार्यस्थलों के प्रतिनिधियों से मिले, कई सवालों पर चर्चा की और उनसे जानकारी हासिल की। कम शब्दों में कहें तो, प्राव्दा एक केन्द्र था जिसके चारों ओर क्रान्तिकारी कार्यकर्ता इकट्ठा हो सकते थे और जो दूमा वाले हिस्से के काम में सहायता प्रदान करता था।

जब से यह हिस्सा तैयार किया गया, इसने अख़बार के काम को अपने महत्वपूर्ण कार्यों में शामिल कर लिया। तुरन्त चौथा दूमा शुरू हो गया, बोल्शेविक "छह:" ने प्राव्दा में निम्नलिखित अपील प्रकाशित की :

इस बात से पूरी तरह सहमत होते हुए कि वर्तमान समय में प्राव्दा सर्वहारा की ताक़तों को जोड़ने का काम जारी रखेगा, हम आपसे अपील करते हैं, साथियो, इसका समर्थन करें, वितरण करें और इसके लिए सामग्री भेजें। निश्चित रूप से प्राव्दा की अपनी ख़ामियाँ हैं, सभी नये अख़बारों की तरह जिनके पास मज़बूती हासिल करने के लिए समय या अनुभव नहीं होता, मगर इनसे छुटकारा पाने का एक ही तरीक़ा है कि इसे नियमित रूप से अपना समर्थन दें।

जब पार्टी द्वारा मुझे प्राव्दा के प्रकाशन में उपस्थित होने के काम की ज़िम्मेदारी मिली तो मैंने सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूरों के सामने निम्नलिखित सन्देश रखा :

मज़दूरों का नुमाइन्दा और मज़दूरों का अख़बार एक ही तरह के काम करते हैं। दोनों के बीच बिल्कुल नज़दीकी सहयोग होना चाहिए; इसीलिए, साथियो, मैं सबसे ज़्यादा सक्रिय रूप से हमारे मज़दूर अख़बार, प्राव्दा निकालने के काम में हिस्सेदारी करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। साथियो! हमारी ख़ुद की कोशिशों से, हमारी मेहनत की कमाई से, हमने रूस में पहला मज़दूरों का दैनिक अख़बार निकालना शुरू किया। हमने, सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूरों ने, इस काम में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। मगर एक अख़बार की स्थापना काफ़ी नहीं है, हमें इसकी ताक़त और बढ़ानी ही होगी, और इसे अपने पैरों पर सुरक्षित खड़ा करने के लिए बहुत कुछ करना पड़ेगा। प्रत्येक मज़दूर एक नियमित पाठक ज़रूर बने और प्रत्येक पाठक दूसरे नियमित पाठकों को ज़रूर जोड़े। हमें प्राव्दा के लिए चन्दे इकट्ठा करने होंगे और सुनिश्चित करना होगा कि जितना अधिक हो सके वितरित किया जाये। साथियो! आइए श्रम के हितों की सेवा करने वाले इस अख़बार को तैयार करने के लिए साथ मिलकर काम करें।

पुलिस के साथ दिन-प्रतिदिन का संघर्ष

मगर प्राव्दा के लिए समर्थन जुटाने और इसका प्रकाशन जारी रखने के लिए संसाधनों की व्यवस्था करने में मुझे लगातार पुलिस के उत्पीड़न का भी सामना करना पड़ता था। हम निरन्तर अख़बार की ज़ब्ती के ख़िलाफ़ लड़ते रहते थे और तरह-तरह के दाँव-पेंच का सहारा लेना पड़ता था, ताकी किसी भी दिन का अंक इसके पाठकों तक पहुँच सके।

क़ानून का पालन करने के लिए जब अख़बारों को बेचने के लिए निकाला जाता था, उसी समय अख़बार की एक कॉपी प्रिंटिंग शॉप से प्रेस कमेटी को भेजी जाती थी। क्योंकि कमेटी आम तौर पर तुरन्त उस अंक की ज़ब्ती का आदेश जारी कर देती थी, हमें विक्रेताओं के बीच वितरण के लिए अख़बार के प्रिण्टिंग शॉप से निकलने और कमेटी के हाथों तक पहुँचने तक के छोटे से समय अन्तराल का इस्तेमाल करना पड़ता था।

फ़ैक्टरियों और कार्यस्थलों के प्रतिनिधि अख़बारों को प्रेस से सीधे प्राप्त कर लेने और तुरन्त अपने क्षेत्रों को वापस लौट जाने के लिए तैयार होकर प्रकाशन कार्यालय के बाहर प्रांगण में सुबह होने से पहले ही इकट्ठा हो जाते थे। बाद में पुलिस हमारे प्रयासों के बारे में जान गयी और प्रकाशन संस्थान को जासूसों ने घेर लिया तथा आस-पास की सड़कें घुड़सवार और पैदल पुलिस की टुकड़ियों से भर गयी। अकसर, क़ानून का उल्लंघन करके, प्रेस कमेटी के अफ़सर प्रिण्टिंग शॉप आ जाते थे और अख़बारों को प्रेस से बाहर निकलते ही ज़ब्त कर लेते थे। तब हम अख़बारों के कुछ बण्डलों को अटारी या सीढ़ियों में छिपाने की कोशिश करते थे ताकि पुलिस के जाने के बाद कम से कम कुछ कॉपियाँ छुपाकर बाहर ले जायें।

दूमा में प्राव्दा पर पूछताछ

स्टेट दूमा का सदस्य होने के नाते मुझे जो "सुरक्षा" मिली उसने अधिकारियों के साथ इस निरन्तर संघर्ष में हमारे काम को कुछ हद तक फ़ायदा पहुँचाया मगर, कहने की ज़रूरत नहीं कि, उसने किसी भी तरह पुलिसी अभियोग तथा क़ानूनी अभियोग से ना मेरे साथियों को ना मुझे बचाया। जाँच करने वाले मजिस्ट्रेटों ने मेरे ख़िलाफ़ एक के बाद एक मामले इकट्ठा कर रखे थे और, जब उन्हें लगता था कि एक अनुकूल समय आ गया, वे अपना बिल पेश कर देते थे – मुझ पर अख़बार को लेकर कई बार अभियोग लगाये गये। सरकार मज़दूरों के नुमाइन्दे को गिरफ़्तार करने का जोखिम नहीं उठाती थी, मगर कार्यवाही के दौरान दूसरे अधिक लिप्त लोगों को शामिल करने की कोशिश करती थी।

मुझसे बहुत बार पूछा गया : "प्राव्दा अख़बार का सम्पादन कौन करता है?" और कोर्ट के प्रत्येक अफ़सर ने वही निश्चित जवाब पाया : "सम्पादक का नाम अख़बार के हर कॉपी पर छपा है और सहयोगी हैं सेण्ट पीटर्सबर्ग के हज़ारों मज़दूर।"

मई 1913 में, प्राव्दा बन्द कर दिया गया और कुछ दिनों बाद यह एक नया नाम प्राव्दा ट्रूडा के साथ सामने आया। इस ज़ाहिर-से छद्मावरण का सहारा कई दूसरे अवसरों पर भी लिया गया; सम्पादकों के पास अनेक नाम रहते और उन सभी में *प्राव्दा* शब्द होता था, जैसे: *ज़ा प्राव्दाई*, *प्रोलेतार्स्कया प्राव्दा, सेवेर्नाया प्राव्दा* और *पुत प्राव्दा** एक के बाद एक इस्तेमाल किया जाता था। गुप्त पुलिस प्राव्दा को दबाने का कोई भी मौक़ा नहीं गँवाती थी, फिर भी हमारा काम इतना व्यवस्थित ढंग से होता था कि सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूर शायद ही कभी अपने दैनिक अख़बार के बिना रहे हों।

** ऊपर दिये गये नामों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैं : मज़दूरों का प्राव्दा (सच); प्राव्दा (सच) के लिए; सर्वहारा प्राव्दा; उत्तरी प्राव्दा; प्राव्दा का रास्ता। – सम्पादक*

हमारी बड़ी कठिनाइयों में एक थी पैसे की कमी। पैसे का मुख्य स्रोत था फ़ैक्टरियों तथा कार्यस्थलों में नियमित चन्दा इकट्ठा करना, मगर कभी-कभी हम उन व्यक्तियों से सहायता पाते थे जो मज़दूरों के क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखते थे, जिनमें महान लेखक मैक्सिम गोर्की भी शामिल थे, जिन्होंने जब भी हो सका, हमारी मदद की। गोर्की सभी बोल्शेविक प्रकाशनों को नियमित रूप से सहयोग करते थे और वे केवल ख़ुद ही सहायता नहीं देते थे बल्कि अख़बार के लिए दूसरों के पास से भी पैसे इकट्ठा करने के लिए क़दम उठाते थे।

जब वे विदेश से लौटे तो गोर्की फिनलैण्ड में बस गये, जो सेण्ट पीटर्सबर्ग से ज़्यादा दूर नहीं है, और मैं वहाँ उनके पास 1913 के बसन्त में गया था। उनकी

(पेज 15 पर जारी)

गौहर रज़ा की नज़्म

साज़िश

(उन्नाव की बेटी के नाम)

जब साज़िश, हादसा कहलाये
और साज़िश करने वालों को
गद्दी पे बिठाया जाने लगे
जम्हूर[1] का हर एक नक़्श-ऐ -क़दम[2]
ठोकर से मिटाया जाने लगे

जब ख़ून से लथपथ हाथों में
इस देश का परचम आ जाये
और आग लगाने वालों को
फूलों से नवाज़ा जाने लगे

जब कमज़ोरों के जिस्मों पर
नफ़रत की सियासत रक़्स[3] करे
जब इज़्ज़त लूटने वालों पर
ख़ुद राज सिंहासन फ़ख़्र करे

जब जेल में बैठे क़ातिल को
हर एक सहूलत हासिल हो
और हर बाइज़्ज़त शहरी को
सूली पे चढ़ाया जाने लगे

जब नफ़रत भीड़ के भेस में हो
और भीड़, हर एक चौराहे पर
क़ानून को अपने हाथ में ले

जब मुंसिफ़ सहमे-सहमे हों
और माँगें भीख हिफ़ाज़त की
ऐवान-ए-सियासत[4] में पहम
जब धर्म के नारे उठने लगें

जब मन्दिर, मस्जिद, गिरजा में
हर एक पहचान सिमट जाये
जब लूटने वाले चैन से हों
और बस्ती, बस्ती भूख उगे

जब काम तो ढूँढ़ें हाथ, मगर
कुछ हाथ ना आये हाथों के
और ख़ाली-ख़ाली हाथों को
शमशीर[5] थमाई जाने लगे

तब समझो हर एक घटना का
आपस में गहरा रिश्ता है
यह धर्म के नाम पे साज़िश है
और साज़िश बेहद गहरी है

तब समझो, मज़हब-ओ-धर्म नहीं
तहज़ीब लगी है दाँव पर
रंगों से भरे इस गुलशन की
तक़दीर लगी है दाँव पर

उट्ठो के हिफ़ाज़त वाजिब है
तहज़ीब के हर मैख़ाने[6] की
उट्ठो के हिफ़ाज़त लाज़िम है
हर जाम की, हर पैमाने की।

---

1. जम्हूर – लोकतंत्र, 2. नक़्शे-क़दम – पदचिह्न, 3. रक़्स – नाच, 4. ऐवान-ए-सियासत – संसद,
5. शमशीर – तलवार, 6. तहज़ीब के मैख़ाने – संस्कृति के केन्द्र

मज़दूर आन्दोलन में मज़दूर अख़बार की भूमिका की एक शानदार मिसाल

(पेज 14 से आगे)

मदद की ज़रूरत अख़बार के सम्बन्ध में और साथ ही साथ पार्टी के दूसरे कामों के सम्बन्ध में भी थी और मैं पार्टी केन्द्र के अनुरोध पर उनसे मिलने गया। यह ध्यान रखते हुए कि हमारी वजह से उन्हें पुलिस की फिर से प्रताड़ना न झेलनी पड़े।

गोर्की ने पार्टी जीवन, क्रान्तिकारी आन्दोलन की स्थिति, भूमिगत कार्य, दूमा हिस्से की गतिविधि इत्यादि के बारे में सवाल करके मुझे अभिभूत कर दिया और संघर्ष की सभी जानकारी में काफ़ी दिलचस्पी दिखायी। उनका आग्रह ख़ास तौर पर उन सभी बातों को लेकर था जो फ़ैक्टरी के काम से सम्बन्धित थीं और जितनी तेज़ी से वे एक के बाद एक सवाल किये जा रहे थे, उतनी तेज़ी से जवाब देने में मैं असफल रहा। विशेष निवेदन को ध्यान में रखते हुए, गोर्की ने अपनी क्षमता के अनुसार जितना कर सके, उतना करने का वादा किया और प्राव्दा के लिए ज़रूरी सम्पर्क तथा साधन प्राप्त करने में हमारी मदद करने के लिए काफ़ी समय दिया।

प्राव्दा पर छापा

प्राव्दा की सख़्त पकड़ से नाराज़, पुलिस क्रूर हो गयी और सभी क़ानूनी औपचारिकताओं को दरकिनार कर दिया। हालाँकि उनके पास ज़ब्ती का कोई आदेश नहीं था, फिर भी उसने अख़बार विक्रेताओं को गिरफ़्तार किया, प्राव्दा की बण्डल ले गयी, और प्रेस कमेटी द्वारा उनकी कार्रवाई क़ानून के दायरे में रखने के पूर्वव्यापी फ़ैसले से चिन्तित भी नहीं थी।

1914 के अन्त में, एक उच्च अधिकारी की कमाण्ड में एक पुलिस टुकड़ी, मगर बिना किसी आदेश के, देर रात सम्पादकीय दफ़्तर पर छापा मार दिया। दरवाज़ों के ताले तोड़ दिये गये, हर चीज़ उलट-पुलट दी गयी और हस्तलेखों तथा पत्र-व्यवहार फ़र्श के बीचोबीच ढेर में फेंक दिये गये। मुझे इस छापे के बारे में टेलीफ़ोन से बताया गया और तुरन्त दफ़्तर की ओर दौड़ पड़ा और पुलिस द्वारा छानबीन करने के ग़ैरक़ानूनी तरीक़े का विरोध किया। मगर, क्योंकि मैं अब तक अख़बार के अधिकारिक सम्पादक के रूप में नहीं जाना जाता था, पुलिस अधिकारी ने जवाब दिया : "आप बीच में क्यों आ रहे हैं? आप इस दफ़्तर में एक अजनबी हैं, इससे आपका कोई मतलब नहीं।"

"ज़रूर है, मैं मज़दूरों का नुमाइन्दा हूँ, और यह एक मज़दूरों का अख़बार है। हम एक ही कारण से सेवा कर रहे हैं," मेरा जवाब था।

पुलिस ने अपनी छानबीन पूरी की और जो भी सामग्री उन्हें चाहिए थी, अपने साथ ले गयी। अगले दिन सम्बन्धित मंत्री के सामने एक और विरोध जताया, मगर इसका कोई असर नहीं हुआ; मंत्री और पुलिस साथ मिलकर काम कर रही थी।

इस समय, सरकार स्टेट दूमा में एक नया प्रेस क़ानून लायी, जिसे 1905 में हासिल की गयी "आज़ादी" के अन्तिम अवशेष भी छीन लेने के लिए बनाया गया था। प्राव्दा पर पुलिस के छापे इस क़ानून के इरादे की एक झलक थी। दूमा धड़े ने प्राव्दा की क़ानूनी ज़ब्ती से निपटने के लिए सवाल-जवाब का एक खाका तैयार किया और 4 मार्च को मैंने सदन में इस मुद्दे पर तुरन्त चर्चा की सख़्त ज़रूरत के समर्थन में बात उठायी। मैंने पूरे रूस में मज़दूरों के प्रेस के हालात की बात की और मेरा भाषण एक तरह से सभी मज़दूरों के नाम प्राव्दा के बचाव में आगे आने की एक अपील था। ब्लैक हण्ड्रेड के बहुमत ने हमारे प्रस्ताव का बहिष्कार किया, मगर मेरे भाषण का मक़सद पूरा हुआ – मज़दूरों ने हमारी पुकार सुनी; प्राव्दा के लिए चन्दे की राशि और सदस्यता की संख्या दोनों में रोज़ाना बढ़ोत्तरी होने लगी।

1914 की जुलाई के दिनों में प्राव्दा बहुत ज़्यादा ज़रूरी हो गया। संघर्ष के विकास की पूरी रिपोर्ट हर दिन छापी जाती थी और इसके सम्पादक हड़ताल कमेटी से लगातार सम्पर्क में रहते थे, उनकी मदद करते थे तथा हड़ताल की ज़रूरतों के लिए चन्दे इकट्ठा करते थे। परिणामस्वरूप, पुलिस का अत्याचार और बढ़ गया, जुर्माने, ज़ब्तियाँ और गिरफ़्तारियाँ बढ़ गयीं और दफ़्तरों को दिन-रात जासूसों और हर तरह के पुलिस वालों द्वारा निगरानी में रखा जाने लगा। प्रत्येक अंक ख़तरे में था और उन्हें सबसे ज़्यादा मशक्कत के बाद ही पुलिस से बचाया जा सका। हमें बहस करनी पड़ती थी कि क्या ऐसा क़ानून या क़ानून का ऐसा कोई अनुच्छेद अख़बार को ज़िम्मेदार मानता है। मैंने ज़्यादा समय सम्पादक दफ़्तर में सम्पादकों की मदद करने में बिताया और मैं हमेशा अपने साथ प्रासंगिक विधान की कॉपियाँ ले जाता था, ताकी असल बातों के साथ पुलिस अधिकारियों का सामना किया जा सके।

जब सेण्ट पीटर्सबर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन मज़दूरों द्वारा बैरिकेड बनाये जाने के स्तर तक पहुँचा, सरकार ने कार्रवाई करने का फ़ैसला लिया। गुप्त पुलिस को आदेश दिया गया कि हमारे संगठन को नष्ट कर दिया जाये ताकि क्रान्तिकारी आन्दोलन अपने मुख्य हथियार, प्रेस को खो दे।

इस बार अख़बार पर छापा मारने की योजना उस समय की बनायी गयी जब प्राव्दा पर आने वाले मुख्य आगन्तुक और साथ ही साथ पूरे सम्पादकीय बोर्ड को गिरफ़्तार किया जा सके। 8 जुलाई को अख़बार के दफ़्तर में शाम होने के तुरन्त बाद पुलिस आयी, जब काम पूरे ज़ोर-शोर से चल रहा था और जब मज़दूर अपने पत्र-व्यवहार तथा वर्कशॉप में हुए धनसंग्रह और पार्टी या ट्रेड यूनियन से सम्बन्धित अन्य मामलों के साथ पहुँचे ही थे। मैं तुरन्त दफ़्तर की ओर गया और पाया कि इमारत चारों तरफ़ से पुलिस से घिरी हुई थी। थोड़ी मुश्किल से अपने लिए रास्ता बनाने के बाद, मैंने देखा कि वह जगह पूरी तरह से अस्त-व्यस्त थी, पुलिस अधिकारी सभी दराज़ों तथा अलमारियों की छान-बीन कर रहे थे और अख़बार के सभी सहयोगियों के साथ आगन्तुकों को भी गिरफ़्तार कर लिया गया और एक कमरे में ठूस दिया गया। मुझे उन लोगों तक पहुँचने नहीं दिया गया और एक खुले दरवाज़े के माध्यम से ही बात करनी पड़ी।

मैंने तुरन्त तलाशी तथा गिरफ़्तारियों का विरोध किया और कहा कि मैं इस मामले को स्टेट दूमा में उठाऊँगा। पुलिस ने अपने उच्च अधिकारी को फ़ोन किया और, बिना शिष्टाचार काम जारी रखने को कहे जाने पर, उन्होंने मुझे उस जगह से तुरन्त निकल जाने का आदेश दिया। मैं डटा रहा, मगर उन्होंने मुझे बाहर निकाल दिया, और पुलिस की कार्यवाही में हस्तक्षेप करने के लिए मुझ पर सामान्य आरोप लगाये।

प्राव्दा की यह छान-बीन मज़दूर संगठनों पर हमलों की एक श्रृंखला का संकेत थी। युद्ध की घोषणा के पहले के कुछ ही दिनों के दौरान पुलिस ने मज़दूर-वर्ग के सभी अख़बार, शैक्षणिक व ट्रेड यूनियन संगठन बर्बाद कर दिये। सेण्ट पीटर्सबर्ग में बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियाँ की गयीं और क़ैदियों के समूहों को उत्तरी प्रान्तों तथा साइबेरिया में निर्वासित किया गया।

प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के बाद पुलिस के क़दम और अधिक सख़्त हो गये और पार्टी पूरी तरह से भूमिगत होने पर मजबूर हो गयी। हमारे गुट ने एक मज़दूर अख़बार का प्रकाशन फिर से शुरू करने के सवाल पर लगातार चर्चा की और मामला नवम्बर सम्मेलन की कार्यसूची में शामिल था जब बोल्शेविकों के पूरे दूमा हिस्से को गिरफ़्तार कर लिया गया था।

पूरे युद्ध के दौरान, हम प्राव्दा के प्रकाशन को फिर से शुरू करने में असमर्थ रहे।

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **अभिषेक**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

अर्थव्यवस्था का संकट गम्भीरतम रूप में

पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बचाने के लिए संकट का सारा बोझ मेहनतकशों की टूटी कमर पर

– मुकेश असीम

कुछ दिन पहले ख़ुद नीति आयोग के सचिव अमिताभ कान्त ने अजीब बयान दिया कि **मोदी सरकार ने इतने आर्थिक सुधार किये कि अर्थव्यवस्था बीमार हो गयी!** यही अमिताभ कान्त कुछ दिन पहले भारत को 5 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनाने के लिए जनता से बलिदान देने की अपील कर रहे थे। उधर एक बड़े उद्योगपति राहुल बजाज ने अपनी कम्पनी की आम सभा में कहा कि न निवेश है, न माँग है, तो वृद्धि क्या आसमान से टपकेगी? बजाज के अनुसार, "सरकार कहे या न कहे, पर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि पिछले 3-4 वर्ष से वृद्धि घट रही है। हर सरकार की तरह यह सरकार भी खिलखिलाता चेहरा दिखाना चाहती है, पर वास्तविकता तो वास्तविकता है।" हाल के दिनों में ऐसे ही बयान कई और उद्योगपतियों तथा आर्थिक विशेषज्ञों ने भी दिये हैं, यहाँ तक कि किरण मजूमदार शॉ व मोहनदास पाई तक ने तो यह भी कह दिया कि सरकारी अधिकारी उन्हें फ़ोन कर अर्थव्यवस्था के संकट पर सरकार की आलोचना न करने को कह रहे हैं। यहाँ इन बयानों का ज़िक्र सिर्फ़ इसलिए कि सरकार द्वारा अपनी संस्थाओं व मीडिया तंत्र के बल पर किये जा रहे 'दुनिया की सबसे तेज़ अर्थव्यवस्था' वाले तमाम प्रचार के बावजूद अब इस बात को छिपाना क़तई नामुमकिन हो चुका है कि अर्थव्यवस्था भारी संकट में है जिससे निवेश, उत्पादन व वितरण सभी ठहराव का शिकार हो चुके हैं तथा इसके नतीजे में बढ़ती बेरोज़गारी व घटती आमदनी आम मेहनतकश जनता के जीवन में गहरी दुख-तकलीफ़ को जन्म दे रहे हैं।

ऑटोमोबाइल उद्योग जो कुल विनिर्माण उद्योग का 40% हिस्सा है, उसकी बिक्री में लगभग एक साल से निरन्तर गिरावट हो रही है। यह कमी इस उद्योग के सभी हिस्सों में व्याप्त है अर्थात कार, ट्रक, स्कूटर, मोटरसाइकल, मोपेड, ट्रैक्टर सबकी ही बिक्री में तेज़ गिरावट आयी है। जुलाई के महीने को ही देखें तो सबसे बड़ी कार कम्पनी मारुति की घरेलू बाज़ार में बिक्री पिछले साल के मुक़ाबले 36% गिरी है। अन्य कम्पनियों का भी कमोबेश यही हाल है। नतीजा यह हुआ है कि इन कम्पनियों ने उत्पादन घटाना शुरू कर दिया है। कहीं कारख़ानों को कई-कई दिन के लिए बन्द किया जा रहा है, कहीं काम के घण्टे या शिफ़्टें कम की जा रही हैं। साथ ही इन कम्पनियों को कलपुर्जे आपूर्ति करने वाली इकाइयों को भी उत्पादन कम या बन्द करना पड़ रहा है। इसके चलते इन सब कारख़ानों में श्रमिकों की छँटनी चालू हो गयी है। ख़ुद ऑटोमोबाइल उद्योग संघ के अनुसार 10 लाख श्रमिकों को रोज़गार से हाथ धोना पड़ सकता है। उधर इनकी बिक्री करने वाले डीलरों की स्थिति भी ख़राब है। इसी साल लगभग 300 डीलरों ने अपना कारोबार बन्द कर दिया है। जो अभी चालू भी हैं वहाँ भी 15-20% श्रमिकों की छँटनी की ख़बर है। इस तरह 30 हज़ार से अधिक मज़दूर बेरोज़गार हो चुके हैं और यह तादाद अभी और बढ़ने ही वाली है।

अन्य उद्योगों का भी ऐसा ही हाल है। मकानों की बिक्री पहले ही कई साल से मन्द पड़ी है और दसियों लाख की संख्या में तैयार फ़्लैट-घर बिना बिके पड़े हैं। उधर ब्लूमबर्ग के अनुसार सिर्फ़ 7 बड़े शहरों में ही 4.643 लाख करोड़ रुपये के आवास निर्माण प्रोजेक्ट किसी न किसी चरण में अटके हुए हैं। कार तथा गृह निर्माण उद्योग में संकट का स्वाभाविक असर इन्हें आपूर्ति करने वाले इस्पात और सीमेण्ट जैसे उद्योगों पर भी पड़ रहा है। पिछले दिनों आये समाचारों के मुताबिक़ 30 से अधिक इस्पात कारख़ानों ने उत्पादन रोक दिया है। उधर वैकल्पिक ऊर्जा की सबसे बड़ी 'मेक इन इण्डिया' कम्पनी सुज़लोन अपना बॉण्ड का भुगतान समय पर नहीं कर पायी। कारोबारी गतिविधियों को सेवा देने वाली फ़र्स्ट फ़्लाइट और ओवरनाइट दो बड़ी कूरियर कम्पनियाँ डूबने के कगार पर हैं, श्रमिकों को महीनों से पगार नहीं मिली है। कारोबार सुस्त होगा, तब कूरियर जैसी सेवाओं में स्वतः ही संकट होगा! ये सब तो कुछ उदाहरण मात्र ही हैं, आर्थिक संकट का प्रभाव आमतौर पर अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में देखा जा सकता है। मगर इसकी वजह क्या है?

रिज़र्व बैंक ने परिवारों की बचत और उन पर क़र्ज़ के आँकड़े जारी किये हैं। ये दिखाते हैं कि उनकी बचत तो पिछले वैश्विक वित्तीय संकट के समय से ही गिरने लगी थी। 2008-09 में सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 23.6% से घटकर 2017-18 में 17.2% रह गयी। क्योंकि आमदनी बढ़ने की रफ़्तार मन्द हो गयी थी, किन्तु ख़र्च महँगाई के साथ बढ़ते रहे, ख़ास तौर पर आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी अति आवश्यक मदों में महँगाई की ऊँची दरों से ख़र्च बेहद तेज़ गति से बढ़ा है। दूसरी ओर परिवारों पर क़र्ज़ की मात्रा वैश्विक वित्तीय संकट के वक़्त से ही बढ़ रही थी। पर नोटबन्दी के बाद के एक साल में ही यह लगभग सीधे ऊपर छलाँग लगा गयी। 2008-09 में परिवारों पर कुल क़र्ज़ 1636 अरब रुपये था। 2016-17 तक ये बढ़कर लगभग 3700 अरब हो गया। मगर उसके बाद एक साल में ही अर्थात 2017-18 में ही यह क़र्ज़ बढ़ते हुए 6739 अरब पर पहुँच गया अर्थात 1 साल में ही यह ऋण लगभग 3000 अरब रुपये बढ़ गया। फ़िलहाल कार, मकान से तेल-शैम्पू तक की बिक्री क्यों मन्द पड़ी हुई है उसे समझने के लिए और कुछ जानने की ज़रूरत नहीं। स्पष्ट है कि 'अच्छे दिनों' के भ्रमजाल में क़र्ज़ लेकर किया गया उपभोग अब आम तौर पर परिवारों की गले की फाँस बन गया है।

पिछले कई साल से सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में जो वृद्धि हो रही थी उसका आधार उत्पादक क्षमता में नया पूँजी निवेश नहीं था। बल्कि वह परिवारों तथा सरकार दोनों द्वारा क़र्ज़ लेकर किया गया उपभोग था। अब क़र्ज़ में डूब जाने से दोनों की स्थिति उपभोग के इस स्तर को बनाये रखने की नहीं रही तो यह वृद्धि दर पिछले वित्तीय वर्ष में ही नीचे जाने लगी थी। अभी तो सभी वित्तीय विश्लेषक इस वृद्धि दर के अपने पिछले अनुमानों को कम कर रहे हैं क्योंकि सरकारी और निजी दोनों उपभोग में कमी आ रही है। निजी उपभोग में कमी के कारणों को तो हम ऊपर देख ही चुके हैं, सरकार की स्थिति भी देखें तो पानी अब गर्दन से ऊपर जाने लगा है और सच्चाई छिपाना नामुमकिन हो गया है। 5 जुलाई को बजट में वित्तीय घाटा जीडीपी का 3.46% बताया गया था। पर इकनॉमिक टाइम्स के अनुसार 8 जुलाई को ही नियंत्रक महालेखाकार (सीएजी) ने वित्त आयोग को बताया कि सरकार की छिपाई हुई बजट बाहर की क़र्ज़दारी को भी जोड़ें तो असल में वित्तीय घाटा जीडीपी का 5.85% है। अब इसमें राज्यों का वित्तीय घाटा भी जोड़ा जाये तो कुछ विश्लेषकों के अनुसार यह 8% से ज़्यादा हो जाता है।

पर अगर प्रतिशत निकालने के लिए भाग देने वाली संख्या अर्थात जीडीपी ही बढ़ाकर दिखायी जा रही हो तो? अगर सरकार के पूर्व मुख्य आर्थिक सलाहकार अरविन्द सुब्रमण्यम के अनुसार लगभग 2.5% बढ़ायी गयी जीडीपी को कम कर प्रतिशत की गणना करें तो यह वित्तीय घाटा 10% से भी ऊपर जा पहुँचेगा! साफ़ है कि वित्तीय संकट गम्भीर स्तर पर पहुँच रहा है। इससे समझ में आता है कि रिज़र्व बैंक, सेबी जहाँ कहीं कुछ रिज़र्व कोष हो सरकार उसे हड़पने की हड़बड़ी में क्यों है या फिर प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद के सदस्यों, रिज़र्व बैंक के पूर्व गवर्नरों, आर्थिक विशेषज्ञों, आदि की चेतावनी के बावजूद सरकार सम्प्रभु बॉण्ड के ज़रिये विदेशों से क़र्ज़ लेने के लिए इतनी उतावली क्यों है। मीडिया में आयी ख़बरों के अनुसार 10 अरब डॉलर रक़म के बॉण्ड अक्तूबर में ही जारी करने की योजना है!

इकनॉमिक टाइम्स बता रहा है कि पिछले पाँच साल में बैंकों ने कॉर्पोरेट क्षेत्र में डूबते ऋणों से बचने के लिए बड़ी मात्रा में जो क़र्ज़ व्यक्तियों को बाँटे थे (गृह, कार, पर्सनल, क्रेडिट कार्ड, शिक्षा ऋण, आदि), अब छँटनी व कम वेतन वृद्धि से उनका भुगतान भी अटकने लगा है। एचडीएफ़सी बैंक, आरबीएल बैंक, यस बैंक, कोटक महिन्द्रा बैंक, आदि सबमें पिछली तिमाही में एनपीए बढ़ा है या बढ़ने की आशंका है। एक्सिस बैंक, आईसीआईसीआई बैंक की हालत तो पिछले साल ही बाहर आ चुकी है। असल में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में कुछ ख़ास पूँजीपतियों के लिए सरकारी दबाव काम करता है, यह सही है। इसलिए क़र्ज़ डूबने की समस्या उनमें तुलनात्मक रूप से बड़ी होती है। पर निजी क्षेत्र के बैंक भी इससे बच नहीं सकते, क्योंकि मुख्य समस्या तो पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में संकट है। यही वजह है कि आदित्य बिड़ला समूह 18 महीने पहले ही चालू किया गया अपना बैंक बन्द कर रहा है। टाटा ने तो लाइसेंस मिलने के बाद भी बैंक चालू ही न किया, पहले ही लाइसेंस रिज़र्व बैंक को लौटा दिया।

बैंकों के अतिरिक्त ग़ैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनियाँ भी नक़दी के अभाव व डूबते ऋणों के कारण पहले ही विपत्ति में हैं। लगभग दो लाख करोड़ के ऋण वाली आईएलएण्डएस व दीवान हाउसिंग फ़ाइनेंस जैसी बड़ी वित्तीय कम्पनियाँ पहले ही बन्द होने के कगार पर हैं। ऐसी ही हालत अन्य कई कम्पनियों की भी है। इससे इन कम्पनियों को ऋण देने वाले बैंकों को ही दिक़्क़त नहीं है बल्कि इन में बड़ी तादाद में कर्मचारियों की भविष्य एवं पेंशन निधि के साथ-साथ बीमा कम्पनियों व म्यूचुअल फ़ण्ड का भी पैसा लगा हुआ है जिससे वित्तीय संकट व्यापक रूप ले रहा है। साथ ही अन्य कम्पनियों के लिए बाज़ार में ऋण मिलने का ही संकट खड़ा हो गया है, क्योंकि ऋणदाताओं को इन कम्पनियों की क़र्ज़ भुगतान क्षमता में भरोसा ख़त्म हो गया है। किन्तु ऋण व नक़दी के इस संकट के पीछे मूल वजह क्या है?

इस संकट की दो मुख्य वजह कारोबार में टर्नओवर की अवधि के दीर्घ होने से पैदा चालू पूँजी की तंगी और गिरती मुनाफ़ा दर हैं। मुनाफ़ा दर पिछले एक दशक से लगातार गिरी है। निफ़्टी शेयर सूचकांक में देश की 50 बड़ी कम्पनियाँ शामिल हैं। इस तिमाही 28 कम्पनियों के नतीजे आये हैं जिनमें 21 औद्योगिक कम्पनी हैं। इनका मुनाफ़ा इस तिमाही में ही 11% कम हुआ है। 20 हज़ार कम्पनियों के सर्वेक्षण के आधार पर सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआईई) का कहना है कि मुनाफ़ा दर का गिरना दीर्घकालीन प्रवृत्ति है – 2007 में जहाँ कुल पूँजी पर कर पश्चात मुनाफ़े की दर 8.1% थी, 2018 में यह गिरकर 1.7% ही रह गयी।

दूसरी ओर कारोबार में टर्नओवर की अवधि लम्बी हो रही है। टर्नओवर का अर्थ है उत्पादन चक्र आरम्भ करने हेतु कच्चे माल व श्रम शक्ति की ख़रीदारी में रुपये के रूप में पूँजी लगाने से लेकर उत्पादित माल की बिक्री होकर उसके वापस रुपये में परिवर्तित होकर पूँजीपति के पास लौट आने की अवधि। इससे ही उत्पादन का चक्र निरन्तर जारी रहता है। यह अवधि जितनी कम हो उत्पादन जारी रखने हेतु उतनी कम कुल चालू या कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। यह अवधि लम्बी होने से कारोबार के चलते रहने हेतु ज़रूरी चालू पूँजी की मात्रा बढ़ जाती है। मकानों से लेकर ऑटोमोबाइल तक में सुस्त बिक्री से इस वक़्त टर्नओवर की यह अवधि बढ़ गयी है। उदाहरण के तौर पर कार कम्पनी से डीलरों के पास जहाँ पहले 30-35 दिन की बिक्री के बराबर माल रहता था अब वह अवधि बढ़कर 40-45 दिन हो गयी है। दोपहिया वाहनों में तो यह अवधि 50-55 दिन तक पहुँच गयी है। इतना माल रखने के लिए ज़रूरी पूँजी की आवश्यकता भी बढ़ गयी है। उपरोक्त

(पेज 12 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006